विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ४
अंक २

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स । विधा । टा । ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-जून १९६६

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्य प्रदेश)
फोन नं० १०४६

अनुक्रमणिका

चित्र कव्हर परिचय—

स्वामी विवेकानन्द, (काशीपुर उद्यान भवन,

कलकत्ता, १८८६ ई०)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ४]   अप्रैल – १९६६ – जून   [अंक २

वार्षिक शुल्क ४)   -*-   एक प्रति का १)

विषय बनाम विष

दोषेण तीव्रो विषयः
कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहन्ति भोक्तारं
द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥

— अपने विनाशकारी प्रभाव में विषय कालनाग के विष से भी तीव्र है। विष तो अपने भक्षण करने वाले का नाश करता है । पर विषय ऐसा है कि जो आँखों से उसकी ओर देख भर लेता है, उसका भी वह सत्यानाश कर देता है। (यहाँ आँखें उपलक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से संयुक्त होना ही मनुष्य के विनाश का कारण है।)

— विवेकचूड़ामणि, ७७

ईश्वर कल्पतरु है

जेठ की तपती दुपहरी में एक राही अपने गाँव की ओर तेजी से पैर उठाये जा रहा था। रास्ते में एक बीहड़ जंगल पड़ता था। तरह तरह के वन्य पशुओं से वह जंगल भरा हुआ था। इसलिए उसने दिन के रहते जंगल को पार कर लेने का निश्चय किया। जब वह छायाहीन लम्बे रास्ते को तय कर जंगल में पहुँचा तो उसे आराम लगा। झुलसाने वाली गर्मी से कुछ समय के लिए तो पिण्ड छूटा। पर अब एक नयी कठिनाई भी उसके सामने आ उपस्थित हुई। छायावाले प्रदेश में आते ही उसे अधिक प्यास लगने लगी। हवा के ठंडे झोंकों ने उसकी थकान को मानो बढ़ा दिया। भूख से उसकी आँतें कुलबुलाने लगीं।

एक वृक्ष की घनी छाया देखकर उसने तनिक देर पैरों को सीधा करने की सोची। वह लेट गया। शीतल बयार उसे थपथपाने लगी। लेटे लेटे वह सोचने लगा — 'जोरों की भूख-प्यास लगी है, अभी यदि कुछ भोजन और ठंडा पानी मिल जाता, तो भगवान् को धन्यवाद देता।' उसके सोचने की देर थी कि वह आश्चर्य से देखता है कि उसी के समीप एक सुराही में जल और एक थाल में पकवान रखे हुए हैं। वह अचरज में आकर उठ खड़ा हुआ। मन में थोड़ा भय भी हुआ कि कहीं कोई प्रेतलीला तो नहीं है। पर उसे भूख-प्यास जोरों से सता रही थी। उसने पेट भर स्वादिष्ट पकवान खाये और डकार कर जल पिया। 'आह!' उसने सोचा, 'यदि एक गद्दा मिल जाता तो कैसा

मजा आता !' सोचने की देर थी कि उसने देखा, एक सुन्दर गद्दा सामने बिछ गया है और उस पर तकिया भी सजा है। उसने सोचा कि भगवान् बड़े कृपालु हैं जो इस प्रकार उसे वांछित वस्तुएँ प्रदान कर रहे हैं।

वह गद्दे पर लेट गया। पैरों को उसने पसार लिया। मुलायम गद्दे को पाकर उसकी थकावट बढ़ गयी। उसके अंग अंग टूटने लगे। वह सोचने लगा, 'भगवान् ने दया करके इतनो सारी चीजें भेज दीं। यदि वह किसी को पैर दबाने के लिए भेज देता, तो फिर कहना ही क्या था।' उसके सोचने की देर थी कि उसने अत्यन्त विस्मय से देखा, एक सुन्दरी युवती उसके पैताने बैठी हुई है और उसके पैरों को दबाने के लिए अपने हाथ बढ़ा रही है। राही ने सोचा, वह कहीं सपना तो नहीं देख रहा है। उसने दो-तीन बार आँखों को मला और आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। नहीं, वह सपना नहीं था—समीप ही उसके शरीर से सटकर वह सुन्दरी बैठी हुई उसके पैरों पर हाथ फेर रही थी। राही सुख के समुद्र में डूब गया और उसे पता ही न चला कि कब उसे नींद आ गयी।

जब उसकी नींद खुली तो उसने देखा कि दिन ढल चुका है। साँझ उतर चुकी है। उसने धीरे धीरे सारी बातें सोचने की कोशिश की। इधर उधर मुड़कर देखा, वहाँ सुन्दरी नहीं थी, सुराही और वह थाल दोनों नहीं थे। वह सोचने लगा कि क्या उसने सपना देखा है। पर गद्दा और तकिया जिन पर वह सोया हुआ था, इस बात

के प्रमाण थे कि उसने स्वप्न में नहीं बल्कि सचमुच में उन बातों का अनुभव किया था।

वह झटपट उठ खड़ा हुआ। अभी तो सारा जंगल पार करना बाकी था। जंगल की साँझ बड़ी भयावह होती है। वह भय से काँपने लगा। उसके मन में विचार आया कि यदि कहीं से कोई बाघ निकलकर उस पर टूट पड़े तो···। सोचने की देर थी कि कहीं से एक बाघ दहाड़ता हुआ निकला और एक ही चपेट में उसने राही का काम तमाम कर दिया।

वह वृक्ष क्या था, जानते हो ? वह था कल्पतरु। राही को इसका ज्ञान नहीं था कि वह कल्पतरु के नीचे पड़ा हुआ है। यही कारण था कि उसके मन में कोई विचार उठते न उठते, उस इच्छा की पूर्ति हो जाती थी। ईश्वर भी कल्पतरु है। उसके पास जो भी इच्छा व्यक्त की जाय, ईश्वर उसको पूरा करता है। पर मुश्किल यह है कि मनुष्य के मन में एक साथ सैकड़ों भले-बुरे विचार उठते रहते हैं। वह जब ईश्वर से प्रार्थना करता है उस समय भी उसके मन में कई गर्हित विचार उठते रहते हैं। इसीलिए मनुष्य जैसे अपने सद्विचारों का सुफल प्राप्त करता है, उसी प्रकार वह अपने कुविचारों का कुफल भी पाता है। यही कारण है कि मनुष्य को प्रार्थना का अनुरूप फल नहीं दिखाई देता। यदि वह एकाग्र चित्त से, एक ही विचार को मन में रखते हुए ईश्वर से प्रार्थना करे तो अवश्य उसकी इच्छा की पूर्ति होगी।

बन्धन से मुक्ति की ओर

श्रीमत् स्वामी प्रभवानन्दजी महाराज, अमेरिका

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

— अर्थात्, "यह विशाल विश्व एक चक्र है। जन्म-मृत्यु-पुनरपि-जन्म की शृंखला में बँधे हुए समस्त जीव इसी चक्र के आश्रित हैं। यह चक्र लगातार घूमता ही रहता है, कभी नहीं रुकता। यह ब्रह्म का चक्र है। जब तक जीवात्मा अपने को ब्रह्म से अलग सोचता है तब तक वह जन्म-मृत्यु-पुनर्जन्म के नियमों में बँधा हुआ इस चक्र में भ्रमता रहता है। पर जब ब्रह्म की कृपा से वह ब्रह्म से अपना अभिन्नत्व अनुभव कर लेता है तब वह चक्र में फिर नहीं घूमता। वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् अपने उपर्युक्त मंत्र (१।६) के द्वारा हमें स्मरण दिलाता है कि मनुष्य का यथार्थ स्वरूप दैवी है, मुक्त और आनन्दमय है; वह ब्रह्म के साथ अभिन्न है। पर मनुष्य अपने इस प्रकृत स्वरूप को भूल गया है और अपने आपको शरीर और मन के साथ अभिन्न मानकर कर्मों के पाश में बँध गया है। यही कारण है कि

जीवन के द्वन्द्व उसे अभिभूत करते हैं और वह जन्म और मृत्यु, सुख और दुःख, भला और बुरा, हर्ष और विषाद का अनुभव करता है। जब तक ये बन्धन नहीं टूटते तब तक शुद्ध, निर्मल आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। जब मनुष्य शरीर और मन के साथ अपने को अभिन्न मानना छोड़ता है और यह अनुभव करता है कि वह अविनाशी, अविकारी आत्मा है, तभी वह सारे बन्धनों और सारी सीमाओं से मुक्त होता है।

यह मुक्त-भाव कैसे प्राप्त होता है ? संसार के सभी धर्मों ने इसके उपाय बताये हैं और वह है— अपने मन को ईश्वर में केन्द्रित करना और उससे युक्त कर लेना।

योगदर्शन बतलाता है कि मन एक तरल द्रव्य के समान है। वह जिसको विषय करता है, उसी का रूप ले लेता है। दूसरे शब्दों में, जब मन किसी विशेष विषय के साथ अपने को एकरूप कर लेता है तो उससे उस विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन जो भी विचार करता है उसी से वह रँग जाता है। अतः कहा जा सकता है कि मनुष्य का चरित्र उसकी अपनी सोचने की आदत पर निर्भर करता है। उसका चरित्र इस बात पर आधारित है कि उसके विचार भले हैं या बुरे।

हमें मन की निर्मलता कैसे प्राप्त हो ? अपने विचारों को ईश्वराभिमुख बनाने से मन शुद्ध होता है। ईश्वर शुद्ध है, पवित्रतास्वरूप है। जब मन को ईश्वर में केन्द्रित किया जाता है तो वह शुद्ध और पवित्र बनता है और तब जिस

प्रकार निर्मल और शान्त सरोवर में सूर्य प्रतिविम्बित होता है उसी प्रकार उसमें ईश्वर का दिव्य भाव झलकता है।

श्रीकृष्ण हमें भागवत में बतलाते हैं, "शुद्ध मन को मुझ सर्वव्यापी ब्रह्म में निविष्ट कर शान्ति के अधिकारी बनो।" सत्य तो यह है कि ईश्वर की अनुभूति मन और इन्द्रियों से परे की बात है। मन उस अनुभूति तक नहीं पहुँच सकता, तथापि यह कहा जाता है कि केवल शुद्ध मन के द्वारा ही वह इन्द्रियातीत ज्ञान प्राप्त होता है। तो क्या ये कथन परस्पर-विरोधी हैं? नहीं। वह तो असंस्कृत मन है, विषयों के रंग से रँगा हुआ मन है, स्वार्थ और अहंकार की भावना से भरा हुआ मन है, जो ईश्वर की अनुभूति नहीं कर सकता। चूँकि मन केवल क्षुद्र अहं और संसार के विषयों में केन्द्रित रहता है इसीलिए वह सांसारिकता में रँग जाता है। यदि इसी मन को ईश्वर की ओर प्रेरित किया जाय तो वह ईश्वरत्व के रंग में रँग जायेगा। तब वह मानो पूरी तरह बदल जाता है; वह शुद्ध बन जाता है। अतः अपने आपको समस्त बन्धनों से मुक्त करने का उपाय यह है कि प्रार्थना, एकाग्रता अथवा ध्यान के सहारे मन को ईश्वर में केन्द्रित कर लिया जाय।

ध्यान करने में समर्थ होने के लिए यह आवश्यक है कि ईश्वर के प्रति हमारी भक्ति होनी चाहिए। यदि हम किसी से प्रेम करते हैं तो उसके सम्बन्ध में ध्यान सहज होता है। इसी प्रकार, अपने मन को स्वाभाविक रूप से ईश्वराभिमुख करने के लिए उसके प्रति अपने भीतर भक्ति

का भाव जगाना आवश्यक है। पर यह भक्ति एकदम से उत्पन्न नहीं हो जाती। भक्ति का स्वरूप क्या है? सतत स्मरण बने रहना। और यदि हम सदैव ईश्वर का चिन्तन करते रहें तो हम देखेंगे कि भक्ति हमारे हृदय में प्रवेश कर रही है और हम अधिकाधिक ध्यान की ओर उन्मुख हो रहे हैं। इस प्रकार हम अध्यात्म के रास्ते आगे बढ़ते हैं।

मन को सतत ईश्वर-स्मरण में लगाये रखना धर्म का गहनतम सत्य है। बात सुनने में तो बड़ी सरल मालूम पड़ती है पर उसका अभ्यास करना कठिन है। कुछ लोगों के लिए तो यह एक प्रकार से असम्भव ही होता है। हममें से जिन लोगों ने अपने मन को ईश्वर में लगाने का प्रयत्न किया है उनका यह अनुभव है कि जिस क्षण हम मन को एकाग्र करने की कोशिश करते हैं उसी समय तरह तरह के विक्षेप पैदा हो जाते हैं। यह एक सामान्य नियम है कि जब हम ईश्वर पर ध्यान नहीं करते होते उस समय विक्षेप भी विशेष नहीं होते; तब हम अपेक्षाकृत शान्त होते है पर ज्योंही हम ध्यान का अभ्यास .रम्भ करते हैं कि विक्षेप शुरू ह । जाते हैं। तो हम क्या करें? हमें धैर्य और अध्यवसाय के साथ अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ध्यान का अभ्यास तक नहीं कर सकते। जब मन विषयों और वासनाओं में लिपटा हुआ रहता है तो ऐसे मन को ईश्वर में लगाना सम्भव नहीं हो पाता। तो फिर उपाय क्या है? श्रीकृष्ण भगवद्गीता में (१२।१०) कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

—"यदि तुम (मुझमें चित्त निविष्ट करने रूप) अभ्यास में भी समर्थ न होओ, तो कर्मों का फलाफल मुझे सौंपते हुए कर्म करो। इस प्रकार मुझे कर्मों का समर्पण करते हुए भी तुम सिद्धि को पा लोगे"। दूसरे शब्दों में, यदि ध्यान का अभ्यास कठिन मालूम पड़ता हो तो हम अपने को निष्काम कर्म में लगा सकते हैं और अनासक्त होकर कर्म करते हुए उनका फलाफल भगवान् को सौंप सकते हैं। ध्यान करने में समर्थ होने के लिए मन की एक सूक्ष्मता या शुद्धता आवश्यक है और यह सूक्ष्मता प्राप्त करने के लिए कर्म करना प्रयोजनीय है।

पर क्या हम नहीं देखते कि कर्म हमारे जीवन को जटिल बना देते हैं और हमें चंचल करते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वास्तव में बन्धन या मुक्ति स्वयं कर्म में नहीं है बल्कि कर्म के पीछे निहित भावना में है। इसीलिए श्रीकृष्ण हमें अपनी भावना को बदलने का उपदेश देते हैं। हम अपने लिए कुछ न करें, प्रत्युन सब कुछ ईश्वर के लिए करने की कोशिश करें। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है—मुझे भोजन करना पड़ता है, अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है; तो क्या यह सब कर्म मैं अपने लिए नहीं कर रहा हूँ? यहाँ भी हमें अपनी भावना में परिवर्तन करना चाहिए। सोचना चाहिए कि ब्रह्म हमारे भीतर है और ब्रह्म हमारे बाहर भी है और

हम जो कुछ कर रहे हैं वह ब्रह्म के निमित्त ही कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, जब हम भोजन करते हों तो ऐसा सोचना चाहिए कि हम ब्रह्म को भोजन समर्पित कर रहे हैं। सब कुछ हमारी मन की भावना पर निर्भर करता है। हम ऊपर से किसी की सेवा करते हुए भले ही दिखाई देते हों पर यदि हमारा मनोभाव ठीक नहीं है तो वह स्वार्थयुक्त कर्म ही होगा। उदाहरण के लिए, कुछ लोग यश प्राप्त करने के लिए अपने जीवन को पारोपकारिक कार्यों में लगा लेते हैं। कभी-कभी वे सोचने लगते हैं कि उनके बिना संसार का गुजारा नहीं हो सकता। इसका मतलब यह नहीं कि हमें परोपकार नहीं करना चाहिए। हमें दूसरों की सहायता करनी चाहिए, पर किस प्रकार ? सबमें उस ईश्वर को देखते हुए और सबमें उसी की सेवा करते हुए। तब हम इस बात के लिए कृतज्ञ होंगे कि ईश्वर ने हमें सेवा का अवसर प्रदान किया। निःस्वार्थ कार्यों के सम्पादन से हमारा मन शुद्ध होता है और हम देखेंगे कि वह स्वाभाविक रूप से ईश्वर की ओर प्रवृत्त हो रहा है तथा सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को समझने में समर्थ हो रहा है।

बाहर के संसार में तथा हमारे अपने मन में जो धारा बह रही है वह निरन्तर बाहर की ओर जा रही है। आध्यात्मिक जीवन का तात्पर्य है इस धारा के विपरीत जाना। अतः मन को नियंत्रित करने के लिए हमें धीरे धीरे धैर्यपूर्वक आगे बढ़ना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक

जीवन एक संघर्ष है। जीवन स्वयं एक संघर्ष है। कोई भी उपादेय वस्तु संघर्ष से ही प्राप्त होती है। आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए भी यही बात लागू होती है। एक महात्मा कहा करते थे, "जब तुम संघर्ष नहीं करते होते तब तुम अवरुद्ध रहते हो। संघर्ष उन्नति का प्रतीक है।"

फिर, उन लोगों के लिए जो बाहर और भीतर ब्रह्म का ध्यान करना बड़ा कठिन अनुभव करते हैं, श्रीकृष्ण ध्यान की एक सरल प्रक्रिया का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं—"मैंने जो अनेक रूप ग्रहण किये हैं और उन रूपों के माध्यम से जो लीलाएँ की हैं, वे समस्त पावन करनेवाले हैं। वे सबके लिए कल्याणकर हैं। श्रद्धा के साथ उनका श्रवण करो। मेरे दिव्य माहात्म्य का कीर्तन करो।" हममें से अधिकांश लोगों के लिए अमूर्त कल्पना एक बड़ी कठिन बात होती है। अतः यहाँ ब्रह्म के दिव्य अवतारों पर ध्यान करने की बात कही गयी है। ईश्वर मानो नीचे उतरता है। एक महापुरुष कहते हैं, "हर युग में वह पृथ्वी पर लोगों को प्रेम और भक्ति की शिक्षा देने मनुष्य रूप में अवतार लेता है।" वह कृष्ण के रूप में आया; बुद्ध का रूप लेकर आया; रामकृष्ण के रूप में अवतरित हुआ। इन दैवी अवतारों के जीवन-वृत्तान्तों को पढ़कर, उनकी कीर्ति और गरिमा के गीत गाकर हमारे हृदय में भक्ति और माधुर्य का संचार होता है, और तब हमारा मन स्वाभाविक रूप से जीवन के उस परम सत्य —ब्रह्म—की ओर मुड़ जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं, "मुझ पर ध्यान करो। मुझी को परम आश्रय मानकर, मेरे निमित्त ही सारे कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करो, सदिच्छाओं और धन का उपभोग करो।" हिन्दू विचारधारा के अनुसार जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह सत्य है कि पूरी तरह कामनारहित हुए बिना हम उस चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। तथापि श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमें कुछ कामनाओं को तृप्त करना पड़ता है। ये उपदेश परस्पर-विरोधी दिखते तो हैं, पर वे वस्तुतः वैसे नहीं हैं। वास्तव में निष्कामता ही चरम लक्ष्य है; पर हर एक के लिए उस उच्चतम सत्य के अनुरूप जीवन यापन कर सकना सम्भव नहीं है। यदि हम इस बात पर जोर दें कि हर व्यक्ति को निष्कामता का आदर्श स्वीकार करना चाहिए, तो क्या होगा ? बहुत से लोग अपनी इच्छाओं को छोड़ देंगे, वे आलसी बन जायेंगे और चुपचाप पड़े रहेंगे। यह आध्यात्मिकता नहीं है। शान्ति और आलस्य की ये दो चरम अवस्थाएँ दिखने में समान-सी दिखती हैं। आध्यात्मिक साधक को शान्ति की अवस्था में पहुँचने के लिए अभिव्यक्ति के विभिन्न सोपानों में से होकर जाना पड़ता है। अतः यदि उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है तो उसमें कोई बुराई नहीं है। पुनश्च, हमें कुछ कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। इनसे ऊपर उठने के लिए इनका निर्वाह आवश्यक है। अपने कर्तव्यों का पालन और अपनी इच्छाओं की पूर्ति

कर सकने के लिए हमें किसी न किसी रूप में आर्थिक सुरक्षा की आवश्यकता होती ही है — चाहे इस युग में हो या अन्य किसी युग में।

हमें बताया गया है कि हम त्याग का आदर्श अपने सामने रखें और केवल उसके सहारे ही जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त किया जाता है। पर यह त्याग है क्या? हो सकता है कोई निर्धन हो, पर सम्भव है कि वह हर समय अपने धनवान होने की कामना करता हो। क्या यह धर्म है? नहीं, धन हमें आध्यात्मिक नहीं बना सकता। सच्चा त्याग अहंकार का है — 'मैं' और 'मेरे' का त्याग है। हमें अपने वैभव को त्यागने की आवश्यकता नहीं है, पर सावधानी यह रखनी है कि वह वैभव हमें कहीं बाँध न दे।

अब प्रश्न उठता है कि जीवन के उस चरम लक्ष्य ईश्वर तक पहुँचने के लिए हम धर्म, अर्थ और सदिच्छाओं का उपभोग किस प्रकार करें? श्रीकृष्ण हमें बतलाते हैं, "मुझी को परम आश्रय मानकर, मेरे निमित्त ही सारे कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करो, सदिच्छाओं और धन का उपभोग करो।" भला वह है जो हमें ईश्वर की ओर ले जाता है। बुरा वह है जो हमें ईश्वर से दूर ले जाता है। जो भी कर्म ईश्वर का विस्मरण कराता है, हमें ईश्वर से दूर ले जाता है। और जो कर्म हमें ईश्वर का स्मरण दिलाता है तथा उसकी स्मृति को बनाये रखने में सहायक होता है, वह हमें उसकी ओर ले जाता है। अतः हम धर्म, अर्थ और सदिच्छाओं का उपभोग इस भावना से करें कि हम

यह उपभोग अपने लिए नहीं बल्कि ईश्वर के लिए कर रहे हैं ।

अपने मन को ईश्वर में लगाये रखने के जो विभिन्न तरीके हो सकते हैं उनका सुन्दर समन्वय ही आदर्श उपाय है । हम ध्यान का भी अभ्यास करें, साथ ही ईश्वर के अवतारों के दिव्य जीवन-वृत्तान्त का भी पाठ करें; फिर ईश्वर का गुणानुवाद भी करें और साथ ही निष्काम कर्म का भी सम्पादन करें । श्रीकृष्ण हमें वचन देते हैं —

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।

— 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार ।

धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु चाहारकर्मसु ।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे याता यास्यन्नि यान्ति च ॥

—धन, जीवन, स्त्री और भोजन के विषय में सब प्राणी अतृप्त होकर गये, जाते हैं और जायेंगे ।

— चाणक्य

पुनर्जन्म और मुक्ति

श्रीमत् स्वामी निखिलानन्द जी महाराज, न्यूयार्क

(स्वामी निखिलानन्दजी न्यूयार्क स्थित रामकृष्ण-विवेकानन्द-सेन्टर के प्रधान हैं। उन्होंने ओन्टेरियो, कनेडा के सड्बरी स्थित हर्टिंगटन यूनिवर्सिटी के छात्रों को टेलीफोन पर एक वार्ता दी। स्वामीजी न्यूयार्क स्थित आश्रम में अपने ही कमरे में बैठे हुए थे। वार्ता के पश्चात् एक विद्यार्थी ने उनसे एक प्रश्न पूछा। प्रस्तुत लेख में स्वामीजी की वार्ता, विद्यार्थी का वह प्रश्न तथा स्वामीजी द्वारा प्रदत्त उस प्रश्न का समाधान ये तीनों सम्मिलित हैं। मूल अँगरेजी से यह अनुवाद डा० नरेन्द्र देव वर्मा द्वारा किया गया है।)

विचारों के विकासक्रम में जब चेतना मानवीय भूमिका पर आत्मचेतन बनी तब मनुष्य ने स्वयं से तीन प्रश्न पूछे : मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मैं कहाँ जा रहा हूँ ? ये मनुष्य के चिरन्तन प्रश्न रहे हैं।

हिन्दू धर्म आत्मा की अमरता और उससे अनिवार्य रूप से अवतरित पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास करता है। भारतीय इतिहास बताता है कि इन सिद्धान्तों का प्रभाव असंख्यों हिन्दुओं की विचारधारा पर बहुत पहले से ही पड़ता रहा है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त उन्हें मनुष्यों के बीच व्याप्त असमानता का कारण समझाता है और दुःखों और आपदाओं से उनकी पूर्ण मुक्ति का आश्वासन देता है। हिन्दुओं की पुनर्जन्म की धारणा कोई अन्धविश्वास

नहीं है अपितु वह प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित एक तात्त्विक सत्य है।

वेदों में कहा गया है कि इस परिवर्तनशील जगत् के मूल में निहित अपरिवर्तनशील सत्ता ही ब्रह्म है। तात्त्विक दृष्टि से यह सत्ता नाम, रूप और गुणों से ऊपर है। वह शाश्वत, असीम, अद्वितीय और शुद्ध-बुद्ध-आत्मस्वरूप है। यह ज्ञानातीत है तथा सीमित मन के द्वारा इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु सापेक्षिक दृष्टि से हिन्दू धर्म साकार ईश्वर को भी सत्य मानता है। यह ईश्वर ही संसार का सर्जक, संरक्षक और विनाशक है। वही हमारा उद्धारकर्त्ता है। मनुष्य ध्यान की गहराई में ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति कर सकता है।

मनुष्य के आत्मस्वरूप का अनुशीलन करने पर हिन्दू मनीषियों को उस सत्ता की उपलब्धि हुई जो शुद्ध-बुद्ध, मनातीत, अद्वितीय, अजन्मा और अमर है तथा जिसे अन्तर्ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। यह सत्ता भौतिक शरीर, इन्द्रिय समूह और मन को अनुप्राणित करती है। उन्होंने इस तत्त्व को आत्मा कहा। आत्मा नित्यशुद्ध, नित्य मुक्त और शांतिमय है। नश्वर शरीर में निवास करने पर भी आत्मा शरीर से स्वतंत्र रहती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :—

"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥"

अर्थात्, नाशरहित, अप्रमेय और नित्यस्वरूप आत्मा के ये शरीर नाशवान् कहे गये हैं।

"न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

अर्थात्, यह आत्मा न तो कभी जन्म लेती है और न कभी मरती ही है। शरीर का वध करने पर भी उसका नाश नहीं होता।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥"

अर्थात् जिसप्रकार मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नये वस्त्रों को पहन लेता है, उसीप्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरों को त्यागकर नये शरीरों में प्रविष्ट होता है। वेदों में कहा गया है कि समाधि में ब्रह्म और आत्मा की तद्रूपता की अनुभूति होती है।

सापेक्षिक दृष्टि से हिन्दू धर्म अनेक जीवात्माओं का अस्तित्व स्वीकार करता है और उसे आत्मा से भिन्न मानता है। आत्मा जीवात्मा के रूप में कैसे प्रतीत होती है, इसे हमारा सीमित मन नहीं समझ सकता। हिन्दू धर्म इसे ही 'माया' या अज्ञान कहता है। माया के कारण

आत्मा शरीर से सम्पृक्त होकर विशिष्ट बन जाती है। किन्तु इसप्रकार की सम्पृक्ति से आत्मा के मौलिक स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्यतःहम मृग मरीचिका देखते हैं किन्तु उससे मरुस्थल में कोई फर्क नहीं पड़ता। जीवात्मा के साथ ही स्वर्ग, नरक, जन्म, मृत्यु और पुन-र्जन्म का सम्बन्ध होता है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुनर्जन्म कर्म के सिद्धान्त द्वारा नियमित होता है। यह कारण और कार्य के सिद्धान्त से अभिन्न है। यदि पुनर्जन्म को न मान-कर हम केवल वर्तमान जीवन को ही स्वीकार करें तो समूचे जीवन के अनुभवों को हम केवल वर्तमान जीवन के बल पर नहीं समझा सकते। जो केवल इसी एक जीवन के बारे में जानता है वह भला जीवन को क्या समझ सकेगा? देहान्तरगामी आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करना नैतिक प्रतिफल के विश्वास की पुष्टि के लिये तर्कसंगत है। हम सब एक ऐसे जीवन को बिताने के लिये पैदा हुए हैं जिसका निर्धारण पूर्वजन्म में किये गये हमारे कर्मों ने किया है। अतीत के द्वारा ही हमारे आज के कार्यों और विचारों का नियमन होता है और वह हमारे भविष्य को भी प्रभावित करता है। जो जैसा बोता है वह वैसा ही काटता है। आज हम वही काट रहे हैं जिसे हमने पहले बोया था। इस धारणा के कारण हिन्दुओं का यह विश्वास होता है कि अपने वर्तमानकालिक दुःखों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। यह धारणा उसे अच्छा कार्य करने के लिये प्रेरित करती है ताकि उसका भविष्य आनन्दमय बन सके।

हिन्दुओं के शास्त्रों के अनुसार मनुष्य के पुनर्जन्म का कारण अतृप्त कामनाएँ हैं। ये कामनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ कामनाओं की पूर्ति मानव देह में होती है, कुछ की अधोमानव देह (पशु आदि) में और कुछ की अर्ध्वमानव देह (देवता आदि) में। इसीलिये जीवात्मा अतृप्त कामनाओं के अनुरूप पशुयोनि, मानव योनि या देवयोनि में पैदा होता है। पशुयोनि या देवयोनि के द्वारा जीवात्मा अतीत में किये गये कर्मों के फल का भोग मात्र करता है। इसीलिये हिन्दू मानवजन्म को बहुत सौभाग्य-शाली मानते हैं।

वेदों में अनेक स्वर्गों का उल्लेख आता है जहाँ पुण्यात्माएँ विविध प्रकार के सुखों का उपभोग करती हैं। सबसे ऊँचे स्वर्ग को ब्रह्मलोक कहा गया है जो द्वैतवादी भक्तों के स्वर्ग के समान है। यहाँ भाग्यशाली आत्माएँ सबसे अधिक समय तक सबसे अधिक आनन्द का उपभोग करती हैं और इष्टदेव के निरन्तर साहचर्य का अनुभव करती हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में महत्तर कार्य करता है किन्तु आत्मज्ञान प्राप्त कर मुक्त नहीं हो पाता, वह व्यक्ति मृत्यु के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। यद्यपि ब्रह्मलोक के जीवन को अमर कहा गया है किन्तु यह अमरता सापेक्षिक है। समय की दृष्टि से अस्तित्व का यह प्रसार मुक्ति या वास्तविक अमरता से बिलकुल भिन्न है।

अमरता या मुक्ति की प्राप्ति का प्रमुख साधन कामना-शून्यता है। जब जीवात्मा तिनके से लेकर उच्चतम स्वर्गस्थित

देवता तक असंख्य योनियों से गुजरता है और अनेकानेक शरीरों के द्वारा कामनाओं को तृप्त कर आनन्द प्राप्त कर चुकता है तब उसे ज्ञान होता है कि उसने वास्तविक अमरता की उपलब्धि नहीं की है। तब वह आत्मज्ञान के द्वारा अपनी समस्त कामनाओं का त्याग करते हुए निमिष मात्र में अमरता की प्राप्ति कर लेता है। मानों एक बिजली सी कौंध उठती है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

"जब हृदय की सभी इच्छाओं का नाश हो जाता है तब नाशवान् अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।" पुनर्जन्म का कठिन पाश एक झटके में काट कर फेंक दिया जाता है।

अमरता किसी आध्यात्मिक साधना का प्रत्यक्ष प्रतिफल नहीं है। यह कोई प्राप्त की जा सकने वाली वस्तु नहीं है। यदि अमरता प्रतिफल होती तब तो उसका आरम्भ भी होता और अन्त भी होता। "प्रत्येक जीवधारी बन्धनों से स्वतंत्र और स्वभावत: मुक्त होता है। वह नित्यप्रकाशमान और सदैव मुक्त होता है।" अमरता के अन्वेषी को स्वयं को माया के उस आवरण से मुक्त करना पड़ता है जो उसमें अहंकार और कामना का अभिनिवेश करता है। व्यक्ति के साथ कामना और अहंकार तबतक संयुक्त रहते हैं जबतक वह शरीर और संसार के पाशों में बँधा रहता है। उसे आध्यात्मिक साधनाओं का अभ्यास करके स्वयं

को कायिक और मायिक जटिलताओं से मुक्त कर लेना चाहिये। इसके लिये व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। तभी वह अपने नित्य मुक्त स्वभाव की अनुभूति कर पाता है।

आत्मा की अमरता की अनुभूति मृत्यु के विजड़नकारी भय का नाश करती है। जड़वादी व्यक्ति मृत्यु से बचने का यथासम्भव प्रयास करता है और अन्त में वह हताश होकर मृत्यु को एक अपरिहार्य अन्त के रूप में स्वीकार कर लेता है। यदि मृत्यु ही मनुष्य के अस्तित्व का चरम अन्त हो, "तब तो किसी वस्तु की आशा ही नहीं की जा सकती, किसी वस्तु की अपेक्षा ही नहीं हो सकती, कुछ किया ही नहीं जा सकता और हम केवल फाँसी पर लटकने के लिये अपनी बारी की प्रतीक्षा ही करते रहते और अन्त में इस विशाल अनर्थकूप और सारहीन संसार से विदा ले लेते।"

वेद मनुष्यों को उपदेश देते हैं, "उस अद्वितीय आत्मा को जानो और अन्य बातों को त्याग दो।" उपनिषदों में आत्मज्ञान का अनुपम वर्णन किया गया है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु छात्र गुरु के समीप बड़ी श्रद्धा से जाता है और आत्मा के सही स्वरूप की जानकारी प्राप्त करता है। इसके बाद वह विद्यार्थी प्राप्त की हुई शिक्षा पर मनन करता है। वह अपने मन से संदेहों को निकाल डालता है। तदुपरान्त वह एकाग्र चित्त से आत्मा के स्वरूप का ध्यान करता है। माया के आवरण हट जाते हैं, संदेहों

की गाँठ कट जाती है और उसके अन्तःकरण में आत्मा और परमात्मा का अभेदत्व प्रकाशित हो उठता है। इसी अभेदता का पुनर्ज्ञान विकास-क्रम का चरमलक्ष्य है।

आत्मज्ञानी भौतिक शरीर में रहते हुए भी मुक्ति का उपभोग करता है। मुक्त आत्मा एक ऐसे व्यक्ति के समान होती है जो यद्यपि पहले रोगी था किन्तु जो अब स्वस्थ हो चुका है, या वह एक ऐसे व्यक्ति के समान होती है जो पहले अन्धा था किन्तु जिसे अब दृष्टि मिल गयी है, अथवा वह एक ऐसे व्यक्ति के समान होती है जो पहले सोया था पर जो अब जाग गया है। आत्मज्ञानी अपने अहं के चोले को उतारकर फेंक देता है और स्वयं को चेतना के रूप में सर्वव्याप्त पाता है। ऐसा व्यक्ति चाहे साधना में लीन रहे या संसार में काम करता रहे, उसको सदैव आत्मा की अमरता का ज्ञान बना रहता है और वह निरन्तर परमानन्द का उपभोग करता रहता है। यद्यपि भख, प्यास तथा शरीर की अन्य आवश्यकताओं की दृष्टि से वह भी सामान्य प्राणियों के समान आचरण करता है किन्तु वह उनमें कभी आसक्त नहीं होता। वह परमतत्त्व की अद्वितीय चरमानुभूति में प्रतिष्ठित हो जाता है और दूसरों के सुख-दुःख को अपना समझने लगता है। वह शरीर, मन और कार्य से किसी भी प्राणी को नुकसान नहीं पहुँचा सकता। वह स्वयं को संसार के कल्याण में लगा देता है। संक्षेप में, मुक्तात्मा अमरत्व के इंगितों पर ही जीता है, कार्य करता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है।

बंधन और मुक्ति की बात बद्ध लोगों के ही सम्बन्ध में कही जाती है। किन्तु मुक्त आत्माओं के लिये न तो बन्धन है और न मुक्ति ही। शरीर में रहने के कारण मुक्त आत्मा को भी रोग, बुढ़ापा और शिथिलता का अनुभव होता है। वह अंधा, बहरा तथा अन्य अभावों से ग्रस्त हो सकता है। किन्तु वह यह जानता है कि ये सब शरीर, मन और इंद्रियों के गुण हैं। वह इन्हें मिथ्या समझता है और इनसे विचलित नहीं होता। मुक्तात्मा के भीतर मृत्यु का विचार कोई तरंग नहीं उठा सकता। जब उसके जीवन का उद्देश्य ही पूर्ण हो गया है, जब उसे आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो गयी है तब फिर शरीर रहे या न रहे, उसे इसकी चिन्ता क्यों होगी? मूर्ति बनाने के बाद साँचे का कोई उपयोग नहीं रहजाता। मुक्त-आत्मा स्वेच्छा से जी सकता है या मानव जाति के कल्याण के लिये एक नया शरीर धारण कर सकता है।

मृत्यु के बाद आत्मज्ञानी का क्या होता है? क्या उसकी आत्मा कहीं चली जाती है? मरने के बाद अज्ञानी अनेक लोकों में भटकते हैं या अपनी अतृप्त कामनाओं को तृप्त करने के लिये संसार में वापस लौट आते हैं। "जो व्यक्ति कामनाहीन है, जो इच्छाओं से मुक्त है, जिसकी कामनाएँ तृप्त हो चुकी हैं, जिसकी कामनाओं का एकमात्र विषय आत्मा है — वह मरता नहीं बल्कि ब्रह्म होने के कारण वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।" जैसे साँप की उतरी हुई केचुल बाँबी में पड़ी रहती है वैसे ही मुक्त पुरुष

का शरीर देहावसान के बाद छूट जाता है। उसकी आत्मा आलोकमय और भास्वर हो उठती है। जैसे ही उसका अज्ञान नष्ट होता है वैसे ही वह मुक्त-आत्मा आलोक, ज्ञान, मुक्ति और सत्य में विलीन हो जाता है। फिर वह कभी भी अन्धकार, अज्ञान, बन्धन और भ्रम से लिप्त नहीं होता। जब इल्ली तितली बन जाती है तो वह पुनः शंखी में नहीं घुसती। वह तो सूर्य की किरण में नहाये हुए फूलों पर उड़ती फिरती है। मुक्त आत्मा ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म ही बन जाती है।

पश्चिम के बहुत से लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर रुचि दिखा रहे हैं। बहुतों को पुनर्जन्म आत्मा की अमरता के समान प्रतीत होता है। जो लोग मृत्यु के बाद होने वाले नाश से भयभीत हैं या जो स्वर्ग की कल्पना से ऊब चुके हैं उन्हें पुनर्जन्म पर विश्वास करने से शान्ति मिल सकती है। यद्यपि हिन्दुओं के जीवन का उद्देश्य पृथ्वी पर या अन्य किसी जगह पर जहाँ जीवन सीमित होता है, बार बार जन्म ग्रहण करना नहीं है तथापि वे पुनर्जन्म को आत्मा की अमरता का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम समझते हैं। यह सिद्धान्त संसार के मानव जीवन में व्याप्त बाह्यतः नैतिक असमानताओं, अन्याय और अनेक बुराइयों का स्पष्टीकरण करता है। इसके साथ ही वह मनुष्य को स्वार्थ का त्याग करने की और अपूर्णता से मुक्त होने की उद्दाम प्रेरणा प्रदान करता है।

आत्मा की अमरता और उससे निगमित पुनर्जन्म का

सिद्धान्त तटस्थ वैज्ञानिक मेधा को अच्छी प्राक्कल्पना प्रदान करता है। इससे अनेक वैज्ञानिक अनुशीलनों का प्रारम्भ हो सकता है। हम इनका अनुशीलन करके इनकी जाँच कर सकते हैं। तभी हम यह जान सकेंगे कि सिद्धान्त सत्य हैं अथवा नहीं। अमरता पर विश्वास करना उसपर अविश्वास करने की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है। यह असम्भावित की अपेक्षा अधिक संभावित है। इसे सत्य मानकर व्यक्ति ,जीवनयापन कर सकता है। अमरता और अवतार के सिद्धान्त से उसे ऐसी शक्ति और प्रेरणा मिल सकती है जिससे वह निरुद्विग्न रहकर जीवन की अनेक उद्वेलनकारी समस्याओं का सामना कर सकता है जैसाकि पिछले हजारों वर्षों से हिन्दू करते आये हैं।

प्रश्नः— क्या प्रायश्चित्त कर्मों को काट सकता है? क्या नियति के निर्धारक के हृदय में कुछ क्षमा और दया भी होती है?

उत्तरः—कर्म तीन प्रकार के होते हैं। पूर्वजन्म में हमारे द्वारा किये गये कुछ कर्म हमारे वर्तमान जीवन को बनाते हैं। ऐसे कर्मों का फल हमें वर्तमान जीवन में ही भोगना पड़ता है। हिन्दू धर्म के अनुसार अच्छे कर्मों का फल सुख के रूप में और बुरे कर्मों का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है। इससे कोई मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सुख और दुःख से ऊपर उठ सकता है। दूसरे प्रकार के कर्मों का फल इस जीवन में तो नहीं किन्तु आगामी जीवन में भोगना पड़ता है।

तीसरे प्रकार के कर्मों का सम्पादन मनुष्य इसी जन्म में करता है। इन कर्मों का फल हम अपने आगामी जीवन में भोगते हैं। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने से अन्तिम दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है। एक उदाहरण लो। एक शिकारी धनुष-बाण लेकर जंगल में जाता है। वह दूर के किसी पशु को हिरण समझकर बाण छोड़ देता है। वह दूसरा तीर भी धनुष पर चढ़ा लेता है ताकि यदि पहला तीर हिरण को न मार सके तो वह दूसरा तीर चलाने के लिये तैयार रहे। इतने में ही उसे मालूम होता है कि जिस जानवर को वह पशु समझ रहा था वह हिरण न होकर गाय है, जिसे हिन्दू पवित्र मानते हैं। वह अपनी गलती पर पश्चात्ताप करता है। उसे अपने कुकृत्य से ग्लानि हो जाती है और वह धनुष और तरकश को उतार कर फेंक देता है। किन्तु वह जिस तीर को चला चुका है उसे तो वापस नहीं लौटाया जा सकता। मनुष्य ईश्वर को पा लेने के बाद जो कर्म करता है और जिन कर्मों का फल उसे भविष्य में भोगना है वे सब ईश्वर के ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं। किन्तु पूर्वजीवन के जो कर्म इस जीवन का विधान करते हैं उनका फल अनिवार्य रूप से प्रकट होता है। प्रायश्चित्त, क्षमा और दया से फल की तीव्रता कम तो हो सकती है पर इनसे फल पूरी तरह से नष्ट नहीं होता। पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के अनुसार यदि किसी के भाग्य में कुल्हाड़े की चोट बदी है तो उसे कम से कम काँटा अवश्य चुभेगा।

हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य का प्रारब्ध उसके पूर्व-जन्म में किये गये कर्मों की समष्टि मात्र है। हिन्दू अपने वर्तमान जीवन के अनुभवों के लिये ईश्वर को या अकाट्य नियति को उत्तरदायी नहीं मानते। जैसा हम बोते हैं, वैसा ही हम काटते हैं। आज हम उसे ही काट रहे हैं जिसे हमने पहले बोया था। अच्छे से अच्छा पैदा होता है और बुरे से बुरा। मनुष्य ही अपने तथाकथित भाग्य का शिल्पी है और वही अपने भविष्य का निर्माता है।

हिन्दू धर्म यह नहीं मानता कि केवल प्रायश्चित्त मात्र से कर्म कट जाते हैं। इसके लिये हृदय-परिवर्तन जरूरी है। हिन्दुओं की पाप विषयक धारणा ईसाई धारणा से भिन्न है। ईसाई धर्म जिसे पाप मानता है, उसे हिन्दू त्रुटि कहते हैं। जबतक व्यक्ति शरीर धारण करता है तबतक वह भूलों से बच नहीं सकता। मनुष्य को तथाकथित पाप पर अधिक सोचना नहीं चाहिये। कीचड़ को कीचड़ से नहीं धोया जा सकता। एक बार ही सही, पर सच्चे हृदय से ईश्वर से कहो कि तुमने भूल की है और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हें शक्ति प्रदान करें ताकि तुम उसे पुनः न दुहराओ। गीता में कहा गया है कि भयानक से भयानक पाप करने के बाद भी यदि व्यक्ति ईश्वर पर अविचलित भक्ति रखता है तो वह तत्काल ही साधु बन जाता है। भगवान् के भक्त का कभी विनाश नहीं होता—'नमे भक्तः प्रणश्यति।' ईश्वर को भूलना ही पाप है। जिसप्रकार आग की एक चिनगारी समूचे लकड़ी के गट्ठर को जलाकर

नष्ट कर देती है उसीप्रकार ईश्वर का ज्ञान सभी प्रकार के पापों का नाश कर देता है।

पवित्रहृदय और विनयी व्यक्ति सदैव भगवान् के कृपापात्र रहते हैं। पिता के घर में अनुतप्त पूत का सदैव स्वागत होता है। जिसप्रकार प्रत्येक साधु पुरुष का एक अतीत होता है उसीप्रकार प्रत्येक पापी का एक भविष्य होता है। यदि हम ईश्वर की ओर एक कदम आगे बढ़ते हैं तो भगवान् हमारी ओर चार कदम बढ़ आते हैं।।

('वेदान्त केसरी' से साभार)

अभिलाषा तभी फलोत्पादक होती है जब वह दृढ़ निश्चय में परिणत कर दी जाती है।

— स्वेट् मार्डेन

स्वामी निरञ्जनानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

स्वामी निरञ्जनानन्द का पूर्व नाम नित्यरंजन घोष था। किन्तु वे अपने मित्रों-परिजनों के बीच निरञ्जन के नाम से जाने जाते थे। उनका जन्म पश्चिमी बंगाल के चौबीस परगना जिले के एक गाँव में हुआ था। बाल्यावस्था से ही वे कलकत्ते में अपने मामा श्रीयुत् कालीकृष्ण मित्र के घर में रहा करते थे। कलकत्ते में ही उनकी स्कूली शिक्षा पूर्ण हुई थी। पढ़ते समय उनकी मित्रता कुछ प्रेत-विद्या का अभ्यास करने वाले युवकों से हो गयी थी और वे उनके लिये बड़ी सफलतापूर्वक माध्यम का कार्य कर दिया करते थे। प्रेतविदों से मित्रता करने के कारण जहाँ उन्हें युगावतार श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने का अवसर मिला था वहाँ दूसरी ओर उनकी अनेकानेक प्रसुप्त मानसिक शक्तियाँ जाग गयी थीं। वे स्पर्शमात्र से रोगियों को अच्छा कर दिया करते थे। एक बार एक धनी व्यक्ति उनके पास आया। उसे अनिद्रा का भयानक रोग था। वह कातर स्वर में उनसे रोग से मुक्त कर देने की प्रार्थना करने लगा। परवर्ती काल में इस घटना का स्मरण करते हुए स्वामी निरञ्जनानन्द कहा करते थे, "मैं नहीं जानता कि मेरे स्पर्श से उस व्यक्ति को कोई लाभ हुआ या नहीं, किन्तु जब मैंने धन-दौलत में डूबे हुए उस व्यक्ति को इतना तड़पते हुए देखा तो मुझे सांसारिक वस्तुओं से घृणा होने लगी।"

युवक निरञ्जन ने अपने कुछ प्रेतविद् मित्रों के साथ पहली बार श्रीरामकृष्णदेव को देखा था। एक दिन वे उनके साथ श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने के लिये दक्षिणेश्वर गए। उनके मित्रों ने श्रीरामकृष्णदेव से माध्यम बनने का अनुरोध किया। पहले तो श्रीरामकृष्णदेव माध्यम बनने के लिये सहमत हो गये और चुपचाप बैठ गये किन्तु दूसरे ही क्षण वे इस कार्य से अरुचि प्रदर्शित करते हुए उठ खड़े हुए। निरञ्जन श्रीरामकृष्णदेव को देखते ही उनकी ओर आकर्षित हो गये थे और उनसे बातचीत करने का अवसर देख रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव भक्त-वृन्दों से घिरे बैठे थे। संध्या हो चली थी। भक्तगण उठकर श्रीरामकृष्णदेव से विदा लेने लगे। जब सब लोग चले गये तब श्रीरामकृष्ण उठकर निरञ्जन के समीप गये और उनका परिचय पूछा। श्रीरामकृष्णदेव को जब ज्ञान हुआ कि निरञ्जन भी प्रेत-विद्या में रुचि रखते हैं, तो उन्होंने निरञ्जन से कहा, "बेटा, अगर तुम भूत-प्रेतों के बारे में ही सोचते रहोगे तो अन्त में तुम भूत-प्रेत ही बनोगे। और यदि तुम ईश्वर के बारे में सोचोगे तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जायेगा। तुम क्या चाहते हो?" निरञ्जन ने तत्काल उत्तर दिया, "मैं ईश्वर के विषय में जानना चाहता हूँ।" तब श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे अपने प्रेतविद मित्रों से सम्बन्ध तोड़ लेने के लिये कहा। निरञ्जन ने इसके लिये सहर्ष सहमति बनाई।

निरञ्जन अठारह वर्ष की आयु में श्रीरामकृष्णदेव के

सम्पर्क में आये थे। उनका शरीर बड़ा पुष्ट था तथा उनके कंधे वड़े ऊँचे थे। यद्यपि वे अभी बालक ही थे किन्तु उनकी आँखों में निर्भयता कूट-कूटकर भरी थी। पहली भेंट में ही श्रीरामकृष्णदेव ने उनकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जान लिया था। वे उनके साथ सुदीर्घ काल से परिचित व्यक्ति के समान बड़ी आत्मीयता से बहुत देर तक वार्तालाप करते रहे। रात अधिक बीत चली थी। इसलिये श्रीरामकृष्णदेव ने निरञ्जन से वहीं रुक जाने का अनुरोध किया। निरञ्जन ने सोचा कि उनके वहाँ रुक जाने पर उनके मामा बड़े चिन्तित होंगे। इसलिये उन्होंने पुनः आने का वचन देकर श्रीरामकृष्णदेव से विदा ली।

रास्ते भर निरञ्जन श्रीरामकृष्णदेव के अपूर्व व्यवहार का स्मरण कर आनन्दविह्वल होते रहे। घर पहुँचकर भी उनका मन उन्हींमें लगा रहा। दो-तीन दिन बड़ी व्याकुलता में बीते। निरञ्जन पुनः दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्णदेव अपने कमरे में ही थे। निरञ्जन को देखते ही वे उठ खड़े हुए और उन्हें अपने समीप खींचते हुए भावविह्वल कण्ठ से कहने लगे, "बेटा! दिन बीतते चले जा रहे हैं। तुम कब ईश्वर का दर्शन करोगे? यदि तुम्हें ईश्वर का दर्शन नहीं मिला तो तुम्हारा सारा जीवन ही व्यर्थ चला जायेगा। तुम कब एकाग्रचित्त से ईश्वर चिंतन में लीन होगे? मैं उस क्षण की प्रतीक्षा बड़ी व्याकुलता से कर रहा हूँ।" श्रीरामकृष्णदेव के भावपूर्ण वचनों को सुनकर निरञ्जन विस्मय से भर उठे। वे सोचने लगे, "ये महापुरुष

कौन हैं ? उन्हें इस बात से इतनी व्याकुलता क्यों हो रही है कि मुझे ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ है ?" श्रीरामकृष्ण-देव के वचनों ने निरञ्जन के हृदय को छू दिया था। उनके दैवी आकर्षण से प्रेरित होकर वे लगातार तीन दिनों तक दक्षिणेश्वर में ही रुक गये। चौथे दिन सबेरे जब निरञ्जन श्रीरामकृष्णदेव से विदा लेकर कलकत्ता लौटे तब उनके मामा उनपर बड़े क्रुद्ध हुए। इतने दिनों तक घर से बाहर रहने के कारण वे चिन्तित हो उठे थे। उन्होंने निरञ्जन से घर से बाहर न निकलने की सख्त ताकीद कर दी। कुछ दिनों तक निरञ्जन घर में ही बन्द रहे किन्तु बाद में उन्हें स्वेच्छा से दक्षिणेश्वर आने-जाने की अनुमति मिल गयी। अब निरञ्जन बिना किसी भय के स्वच्छन्द होकर श्रीरामकृष्णदेव के पास जाने लगे। दिनों-दिन वे श्रीरामकृष्णदेव के अधिकाधिक समीप आने लगे। उनके स्वर्गिक निर्देशन में निरञ्जन की आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ पल्लवित होने लगीं और वे बड़ी तेजी से आध्यात्मिक साधना के पथ पर बढ़ने लगे।

निरञ्जन बड़े स्पष्टवादी थे किन्तु उनमें अहंमन्यता छू तक नहीं गयी थी। उनका हृदय बड़ा उदार था। श्रीराम-कृष्णदेव निरञ्जन के इन दुर्लभ गुणों की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। वे कहा करते थे कि इसप्रकार के गुणों की प्राप्ति पूर्वजन्म में की गयी तपस्या के फलस्वरूप ही होती है। जो व्यक्ति इसप्रकार के गुणों से युक्त होता है उसमें ईश्वर-लाभ की सम्भावना बनी रहती है। निरञ्जन के चारित्रिक

गुण अनुपम थे। उन्हें विवाह से तीव्र अरुचि थी। जब उनके सम्बन्धी उनसे विवाह की बातें करते तो वे क्रोधित हो जाया करते थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि विवाह का विचार उन्हें पतन की ओर ढकेल देगा। वे पूर्ण पवित्र थे। उनपर सांसारिकता की छाया तक नहीं पड़ी थी। इसीलिये श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि "निरञ्जन में कोई अंजन नहीं है।"

यद्यपि निरञ्जन का हृदय बड़ा कोमल था किन्तु उनका स्वभाव बड़ा उग्र था। यदि उनके क्रोध को उत्तेजित कर दिया जाता तो उसे शान्त करना बड़ा कठिन कार्य था। एक बार वे कलकत्ता से नाव में दक्षिणेश्वर आ रहे थे। नाव में अन्य यात्री भी थे। उनमें से एक यात्री श्रीरामकृष्णदेव को भला-बुरा कहने लगा। धीरे-धीरे अन्य लोग भी निन्दा-गान करने लगे। पहले तो निरञ्जन ने उनका विरोध किया। किन्तु उनके विरोध का यात्रियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे लगातार श्रीरामकृष्णदेव की निन्दा करते ही रहे। इससे निरञ्जन का प्रसुप्त क्रोध जाग उठा। रोष से उनका मुखमण्डल लाल हो गया और उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। वे उठ खड़े हुए और शेर के समान दहाड़ते हुए नाव को पकड़कर हिलाने लगे और उसे गंगा में डुबा देने का प्रयास करने लगे। नाव के साथ ही निंदाप्रिय यात्रियों का हृदय भी पत्ते के समान काँपने लगा। उन्होंने जब निरञ्जन के पुष्ट शरीर और क्रोध से रक्ताभ चेहरे की ओर देखा तो उनके देवता

ही कूच कर गये। आने वाले प्राणान्तक क्षण की कल्पना मात्र से उनके रोंगटे खड़े हो गये। वे सब कातर स्वर में निरञ्जन से हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगे। बड़े अनुनय-विनय के पश्चात् ही निरञ्जन का क्रोध शान्त हो सका था।

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव अपार लीलामय थे। वे जगद्गुरु थे तथा वे जानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट स्वभाव होता है तथा उसी के अनुरूप उसे शिक्षा प्रदान करना चाहिये। एक बार ऐसी ही घटना स्वामी योगानन्द के साथ भी घटी थी। किन्तु स्वामी योगानन्द बिना कोई विरोध किये चुपचाप नाव पर बैठे रहे। जब श्रीरामकृष्णदेव को यह बात मालूम हुई थी तब उन्होंने स्वामी योगानन्द को ताड़ना देते हुए कहा था, "बिना कोई विरोध किये गुरु की निन्दा नहीं सुननी चाहिये। यदि व्यक्ति में विरोध करने की ताकत न हो तो उसे तुरन्त वह स्थान छोड़ देना चाहिये।" किन्तु जब श्रीरामकृष्णदेव को निरञ्जन की घटना का ज्ञान हुआ तब वे प्रसन्न नहीं हुए अपितु उन्होंने निरञ्जन को झिड़कते हुए कहा, "क्रोध एक महान् पाप है। तुम भला क्यों क्रोधित हुए? मूर्ख व्यक्ति तो अज्ञान में अनेक बातें कहते रहते हैं। उनकी बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिये।" श्रीरामकृष्णदेव महान् संत होने के साथ ही एक सुयोग्य गुरु भी थे। वे जानते थे कि किस व्यक्ति की कमी को किस विधि से सुधारना चाहिये। ये उदाहरण युगाचार्य की अपूर्व सूझबूझ और उनकी अद्वितीय शिक्षा प्रणाली के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

सभी समय एक-सी परिस्थितियाँ नहीं होतीं। एक बार निरञ्जन को बाध्य होकर नौकरी करनी पड़ी। श्रीरामकृष्णदेव निरञ्जन की नौकरी की बात सुनकर बड़े व्यथित हुए। उन्होंने कहा, "यदि मुझे उसके (निरञ्जन के) मरने की खबर मिलती तो भी मैं इतना दुःखी नहीं होता।" किन्तु जब उन्हें यह मालूम हुआ कि निरञ्जन ने अपनी वृद्धा माता के पोषण के लिये नौकरी की है तब वे पूरी तरह से निश्चिन्त हो गये। निरञ्जन के आने पर उन्होंने कहा, "तब तो ठीक है। इससे तुम्हारे मन में कोई विकार नहीं आ सकेगा। पर यदि तुमने अपने लिये नौकरी की होती तो मैं तुम्हारा स्पर्श भी नहीं कर सकता था। मैं यह सोच भी नहीं सकता कि तुम इतने नीचे गिरोगे।" श्रीरामकृष्णदेव के वचनों को सुनकर एक भक्त ने पूछा, "महाराज, यदि नौकरी न की जाये तो फिर व्यक्ति अपना और अपने परिवार के लोगों का भरण-पोषण कैसे करेगा?" श्रीरामकृष्णदेव ने उत्तर दिया, "अन्य लोग जैसा चाहें वैसा करें। पर मैं इन युवा जिज्ञासुओं के लिये नौकरी को अच्छा नहीं समझता। इनकी तो धातु ही अलग कोटि की है।"

यद्यपि निरञ्जन को बाध्य होकर नौकरी करनी पड़ी थी किन्तु उनकी नौकरी अधिक दिनों तक नहीं टिक पायी। श्रीरामकृष्णदेव पारवर्तीकाल में गले की बीमारी से पीड़ित होकर काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे। निरञ्जन भी अन्य भक्तों के साथ अपने गुरुदेव की सेवा-

शुश्रूषा में मन-प्राण से जुट गये। निरञ्जन तथा अन्य भक्तों का विश्वास था कि वे अपनी सेवा से श्रीरामकृष्णदेव को रोगमुक्त कर लेंगे किंतु उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता जा रहा था। और एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने भक्तों को रोता-बिलखता छोड़कर पार्थिव देह का त्याग कर दिया। उनके लीला-संवरण के उपरान्त उनके बाल-भक्तों पर निराशा और दुःख का पहाड़-सा टूट पड़ा। श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों का विचार था कि उनके पुनीत अवशेषों को पुण्यतोया गंगा में प्रवाहित कर दिया जाय किन्तु निरञ्जन की पहल से ही बहुतांश उनके शिष्यों द्वारा सुरक्षित कर लिया गया।

श्रीरामकृष्णदेव के तिरोभाव के बाद निरञ्जन भी अपने अन्य गुरुभाइयों के साथ वराहनगर मठ में रहने लगे। वराहनगर मठ का जीवन प्रचण्ड आध्यात्मिक साधना और तितिक्षा का जीवन था। निरञ्जन आध्यात्मिक साधनाओं में डूबते चले गये। इसी बीच नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में निरञ्जन ने भी अन्य गुरुभाइयों के साथ संन्यास-धर्म में दीक्षा ले ली। इसी समय उन्हें स्वामी निरञ्जनानन्द का नाम मिला। संन्यास-दीक्षा से स्वामी निरञ्जनानंद के हृदय में वैराग्य की अग्नि तीव्रता से प्रज्वलित हो उठी और वे मुक्त संन्यासी की भाँति विचरण करने की इच्छा करने लगे। वे परिव्राजक होकर निकल पड़े और उन्होंने अनेकानेक स्थानों का पर्यटन करते हुए तपस्या में अपना समय बिताया। जब उन्हें स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से

भारत लौटने की सूचना मिली, तो वे उनका स्वागत करने के लिये लंका गये। स्वामी विवेकानन्द के साथ उन्होंने उत्तरी भारत की भी यात्रा की।

अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों को स्वामी निरञ्जनानन्द ने बनारस में कठोर तपस्या करते हुए बिताया था। किन्तु उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था और तितिक्षा के कारण उन्हें पेट की बीमारी भी हो गयी थी। तपस्या की सुविधा के लिये और जलवायु-परिवर्तन की दृष्टि से वे हरिद्वार चले गये। किन्तु वहाँ भी उन्हें स्वास्थ्यलाभ नहीं हुआ। वहाँ उनपर विशूचिका का आक्रमण हुआ और वे ९ मई सन् १९०४ को महासमाधि में लीन हो गये।

यद्यपि स्वामी निरञ्जनानन्द की ओर ताकने से भय लगता था किन्तु उनका हृदय फूल के समान कोमल था। श्रीरामकृष्णदेव पर उनकी अगाध श्रद्धा थी और वे स्वामी रामकृष्णानन्द के साथ उनके पुनीत अवशेषों की बड़े भक्ति-भाव से पूजा करते थे। युगावतार श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सधर्मिणी श्रीमाँ सारदा के समीप तो वे शिशुवत् बन जाया करते थे। श्रीमाँ के साथ उनकी अंतिम भेंट बड़ी मार्मिक थी। यद्यपि किसी से उन्होंने अपने अन्तिम समय का उल्लेख नहीं किया था किन्तु उनके व्यवहार से ऐसी आशंका होती थी कि सम्भवतः वे अन्तिम बार श्रीमाँ का दर्शन कर रहे हैं। वे चाहते थे कि श्रीमाँ उनकी पूरी तरह से देखभाल करें, वे श्रीमाँ के हाथ का पकाया अन्न खायें और उन्हींके हाथों से भोजन ग्रहण करें। जब हरिद्वार

जाने का समय आया तब वे श्रीमाँ के चरणों पर गिर पड़े। उनकी आँखों से अश्रु - प्रवाह बह निकला। कुछ देर में वे प्रकृतस्थ हुए और अपनी आँखों से आँसुओं को पोंछते हुए चुपचाप अपनी अन्तिम यात्रा के लिये निकल पड़े।

स्वामी निरञ्जनानन्द श्रीमाँ की अनन्य भाव से भक्ति करते थे। उनकी इस अपूर्व भक्ति को देखकर स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा था, "निरञ्जन श्रीमाँ की इतनी भक्ति करता है कि केवल इसीलिये मैं उसके एक हजार एक अपराध माफ कर सकता हूँ।" बंग-साहित्य के कृतधी नाटककार श्री गिरीशचन्द्र घोष स्वामी निरञ्जनानन्द के माध्यम से ही श्रीमाँ की महत्ता से अवगत हो सके थे और उनका पुनीत दर्शन प्राप्त कर कृतकृत्य हुए थे।

स्वामी निरञ्जनानन्द के हृदय में मृदुलता और उग्रता का अपूर्व समन्वय था। उनका सत्यप्रेम महान् था। एक बार कलकत्ता के एक धनी व्यक्ति ने काशी में शिवमंदिर का निर्माण कराया। जब स्वामी विवेकानन्द जी को इस बात की सूचना मिली तब उन्होंने कहा, "यदि उसने गरीबों का दुःख दूर करने के लिये कुछ किया होता तो उसे एक हजार एक मंदिर बनवाने का पुण्य मिलता।" स्वामीजी के वचनों को सुनकर वह व्यक्ति बड़ा प्रभावित हुआ और उसने तत्काल श्रीरामकृष्ण मिशन के सेवाश्रम को एक बड़ी राशि दान देने की घोषणा कर दी। पर कुछ समय पश्चात् ही उसका जोश ठंडा हो गया और उसने संकल्पित द्रव्य में कटौती करनी चाही। जब स्वामी निरञ्जनानन्द

को यह बात मालूम हुई तो वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने ऐसे असत्यवादी व्यक्ति का एक पैसा भी दान के रूप में स्वीकार नहीं किया।

स्वामी निरञ्जनानन्द का जीवन घटना बहुत नहीं है। किन्तु उनके इसी जीवन से प्रभावित होकर अनेकानेक व्यक्तियों ने संन्यास-धर्म में दीक्षा ली थी। स्वामी निरञ्जनानन्द नित्यसिद्ध पुरुष थे, युगावतार के लीला-सहचर थे। श्रीरामकृष्णदेव उन्हें 'ईश्वरकोटि' कहा करते थे।

मनुष्य की आँखें उसके चरित्र, व्यक्तित्व और अन्तःप्रवृत्ति का दर्पण है।

— अज्ञात

विज्ञप्ति

नई दिल्ली में मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक अनुसंधान की स्थापना मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में घटित होने वाली असामान्य घटनाओं के विभिन्न रूपों तथा ब्रह्मविद्या व योग शास्त्र के उदात्त उपदेशों के प्रसारार्थ एक राष्ट्रीय संस्थान के रूप में की गई है।

संस्थान में तुलनात्मक धर्म, योग, तन्त्र, ज्योतिष, अध्यात्म तथा परा-मनोविज्ञान आदि विषयों पर शोधकार्य किया जाता है। उपर्युक्त किसी भी विषय से सम्बन्धित जानकारी सर्वथा अपेक्षित है। उन समस्त सज्जनों के प्रति हम कृतज्ञ होंगे जो अध्यात्म-रहस्य के विषयों के शोध के बारे में किसी प्रकार की जानकारी या मार्गदर्शन प्रदान करने का कष्ट करेंगे।

विस्तृत विवरण के लिये लिखिये :—

निर्देशक,

मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक अनुसंधान संस्थान,

२२—सरदार पटेल मार्ग।

चाणक्यपुरी, नई दिल्ली — ११

ब्रह्मचर्य की महत्ता

श्रीमत् स्वामी विमलानन्दजी महाराज

(गतांक से आगे)

गृहस्थ का जीवन:—

गार्हस्थ्य - जीवन के मूल सिद्धान्तों की शिक्षा ब्रह्मचर्याश्रम में ही दे दी जाती है। गृहस्थाश्रम में सभी उचित प्रकार के सुखों के भोग का अवसर मिलता है ताकि इन्द्रियों का परिष्करण हो सके। इसके साथ ही यहाँ मन को बलवान् बनाने, शक्तिशाली संतान उत्पन्न करने, अन्य तीनों आश्रमों के कार्य को सुचारु रूप से चलाने तथा धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन कर मुक्ति प्राप्त करने का अवसर भी रहता है। वैदिक साहित्य में आपात-विरोधी उक्तियाँ मिलती हैं जो विवादास्पद सिद्धान्त सामने रखती हैं। इन सिद्धान्तों पर परवर्ती काल में विशद रूप से चर्चा की गई है। ऋग्वेद में (५।४।१०) कहा गया है, "प्रजाभिरग्ने अमृतत्वं अश्याम," अर्थात् हे अग्नि। हम प्रजोत्पत्ति के द्वारा अमरत्व प्राप्त करें। किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक के महानारायण सूत्र में (८।१४) बड़े अधिकार के साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि "न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वं आनशुः," अर्थात् कुछ लोगों ने प्रजोत्पत्ति या धन से नहीं अपितु वैराग्य से अमरता प्राप्त की है। पहली उक्ति को दूसरी उक्ति के आधार पर निरस्त

नहीं किया जा सकता और दूसरी उक्ति को पहली उक्ति के बल पर मिथ्या नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः इस विरोध का समाधान आरण्यक के उद्धरण में आये 'एके' शब्द में मिल जाता है। अन्तिम दोनों आश्रमों को केवल वे ही लोग साधते हैं जिनमें उत्कट आध्यात्मिक पिपासा होती है। ये दोनों आश्रम शास्त्रों के द्वारा अनुमोदित हैं। जो लोग दोनों मीमांसाओं को समष्टिगत रूप से देखते हैं, वे गृहस्थाश्रम को ही सभी दृष्टियों से सर्वोपरि समझते हैं और दोनों अन्तिम आश्रमों को सुविधा या रियायत मानते हैं। किन्तु जो शारीरिक-मीमांसा को एक स्वतंत्र शास्त्र मानते हैं वे अंतिम आश्रम को ही सर्वोत्कृष्ट बताते हैं और उसे 'मोक्षाश्रम' कहते हैं।

गृहस्थाश्रम का अर्थ केवल सफल विवाहित जीवन ही नहीं है। ऋषियों की गृहस्थाश्रम विषयक धारणा इससे ऊँची है। वेस्टरमार्क का कथन है कि विवाह की नींव परिवार है किन्तु परिवार की नींव विवाह नहीं है। धर्म-शास्त्रों के अनुसार विवाह में यज्ञ की पवित्रता और उत्कृष्ट कोटि का दान समाहित रहता है। यह एक तपपूर्ण जीवन का निर्देश करता है। इस जीवन में व्यक्ति को अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिये कड़ा परिश्रम करना पड़ता है। गार्हस्थ्य जीवन के औचित्य की रक्षा करने के लिये सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है। वर और वधू अलग-अलग गोत्र के हों। इसके लिये पितरावली का सम्यक् ज्ञान रखना पड़ता है। सगोत्रीय विवाह नहीं

किये जाते। केवल उन्हीं स्थानों पर इस प्रकार के विवाह सम्पन्न होते हैं जहाँ ऐसे विवाहों की परम्परा पहले से है। लड़के और लड़कियों का चुनाव स्वास्थ्य, चरित्र और उचित स्वभाव की दृष्टि से किया जाता है ताकि जहाँ तक सम्भव हो शारीरिक, मानसिक और नैतिक रोगों का प्रसार न हो सके। जिस परिवार में वेदों का अध्ययन नहीं होता या जहाँ पुरुषों की संख्या कम होती है वहाँ उत्तम वर-वधू नहीं मिलते। जो परिवार असंयमी होता है वहाँ ऐसे स्त्री-पुरुष नहीं मिलते जो आर्य धर्म का पालन करने की योग्यता रखते हों। चुनी गयी वधू धर्मचारिणी और अस्पृष्ट-मैथुन हो। उसकी आयु वर से कम हो। उसे बुद्धिवती, शीलवती और लक्षणसम्पन्न होना चाहिये। वर के सम्बन्ध में आस-पास कोई अफवाह न उड़ती हो और वह अपनी जाति से निकाला न गया हो। जन्मजात गूँगा, बहरा, या मिरगी की बीमारीवाला, या क्षय, या कोढ़, या अन्य किसी भयानक रोग से ग्रस्त व्यक्ति विवाह के योग्य नहीं समझा जाता। दास, कामविक्षेप से ग्रस्त, हताश, अपराधी और पागल व्यक्ति विवाह के लिये अयोग्य होते हैं। कात्यायन श्रौत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित करने के पहले वर और बधू की पिछली दस पीढ़ियों के ज्ञान, सदाचार और प्रशंसनीय कार्यों की जाँच कर लेनी चाहिये। यदि विवाह कार्य के पहले किसी पक्ष की नपुंसकता तथा अन्य अवगुणों का पता चले तो वाग्दान होने पर भी कन्यादान नहीं करना चाहिये।

धार्मिकता, समृद्धि, प्रजोत्पत्ति, और उचित सम्बन्धों की वृद्धि की दृष्टि से एक ही वर्ण के दो व्यक्तियों के विवाह को लाभदायक माना जाता था। ऐसा विवाह असांसारिक और अशरीरी होता है और इससे उत्कृष्ट संतति की प्राप्ति होती है। एकपत्नीक विवाह आदर्श विवाह होता है। धर्मपत्नी सदृशी कही जाती है। उसे अपने पति के साथ समस्त प्रकार के धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने का अधिकार होता है। वह अपने पति की ओर से दान कर सकती है तथा अन्य देखभाल के कामों को पूरा कर सकती है। व्यक्ति उत्तम संतान उत्पन्न कर अपने पितृ-ऋण से मुक्त होता है। धार्मिक साधना करके वह देव-ऋण से मुक्त होता है और वेदों का अध्ययन करके वह गुरु-ऋण से उऋण होता है। परदारवर्जन, ऋतौ स्वदाराभिगमन, पर्व व्रतादिदिनवर्जन और ऊर्ध्वरेतसत्व का पालन करने पर व्यक्ति विवाहित होकर भी ब्रह्मचारी कहा जाता है। यदि विवाहित व्यक्ति के मन में किसी अप्सरा की मूर्ति को भी देखकर मानसिक विकार का उदय हो तो उसका दमन करना आवश्यक है।

वैदिक धर्म में यज्ञ को दाम्पत्य जीवन की भित्ति कहा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी पवित्र अग्नि का पूजन करता है। समावर्तन के बाद उसे उसी अग्नि में समावर्तन संस्कार पूर्ण करना चाहिये। विवाह-समारोह के अवसर पर उसी पवित्राग्नि को प्रतिष्ठित करना चाहिये या पुनः अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये। पिता के देहावसान के

उपरान्त पुत्र उनके द्वारा प्रज्वलित अग्नि को भी बनाये रख सकता है। गृहस्थ स्मार्ताग्नि या श्रौताग्नि की पूजा करता है जिसे त्रेता भी कहते हैं—अर्थात् आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। त्रेताग्नि का प्रज्वलन विवाह के ठीक बाद ही नहीं किया जाता। दम्पति शीत से बचने के लिये सभ्याग्नि और रसोई पकाने के लिये पचनाग्नि जलाकर रखते हैं। इन अग्नियों का उपयोग केवल लौकिक होता है। इनका कोई धार्मिक महत्त्व नहीं है। विवाह के अवसर पर प्रज्वलित की गई अग्नि को गृह्याग्नि या औपासनाग्नि कहते हैं। जो व्यक्ति पंचाग्नि (अर्थात् तीन श्रौताग्नि, गृह्याग्नि, और सभ्याग्नि) का प्रज्वलन करता है उसकी प्रशंसा पंक्तिपावन कहकर की जाती है, अर्थात् वह दूसरों को भी पवित्र करने वाला माना जाता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही व्यक्ति को अग्निहोत्र करना पड़ता है। किंतु जबतक त्रेताग्नि का प्रज्वलन नहीं होता तबतक व्यक्ति वैवाहिकाग्नि में ही अग्निहोत्र का सम्पादन करता है। बाद में वह त्रेताग्नि में ही अग्निहोत्र सम्पन्न करता है। अग्निहोत्र को उपासना का सर्वोच्च रूप माना जाता है तथा इसका अनुष्ठान जीवन भर करना पड़ता है। इसके आयोजन के लिये पवित्र साधनों का ही उपयोग करना चाहिये। जुआ, चोरी, सूदखोरी, व्यापार और दूसरों की सेवा से उपार्जित धन को इसमें नहीं लगाना चाहिये। इसके निमित्त केवल ज्ञान और परिश्रम से उपार्जित धन एवं गुरुदक्षिणा का ही उपयोग किया जा सकता है।

यात्रा के लिये प्रस्थान करते समय गृहस्थ को अग्निहोत्र का कार्य किसी अयोग्य व्यक्ति को नहीं सौंपना चाहिये।

जब गृहस्थ देखता है कि उसके केश अभी भी काले हैं और उसे अभी ही एक पुत्र हुआ है, तब वह श्रौताग्नि प्रज्वलित करता है। वह उसमें सात पाकयज्ञों, सात हविर्यज्ञों और सात सोमसंस्थों का संपादन करता है। पाकयज्ञ का सम्पादन पत्नी के साथ गृह्याग्नि में किया जाता है। श्रौताग्नि में नैमित्तिक या काम्य आहुतियाँ दी जाती हैं। गौतम ने इन्हें ब्राह्मण के चालीस संस्कारों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। मनु महाराज बताते हैं कि यज्ञों और महायज्ञों के द्वारा ब्राह्मण के सच्चे शरीर का जन्म होता है। उपनिषदों और गीता में कहा गया है कि जब नैमित्तिक और काम्य कर्म के बिना किसी अपेक्षा के, बिना फल की आकांक्षा के, केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाते हैं तब ये कार्य हमारी आत्मा को निर्मल करते हैं और हमें 'प्रत्यक् - तत्त्वाधिगम' अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के योग्य बनाते हैं। यजमान और उसकी पत्नी को इन कर्मों का सम्पादन धार्मिक निष्ठा, निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य और कठोर आत्मनिग्रह के साथ करना चाहिये। होता को हँसना नहीं चाहिये। उसे शांति बनाए रखना चाहिये। उसे समय का पालन करना चाहिये और दूसरे के अन्न को ग्रहण नहीं करना चाहिये। अपनी पत्नी के अतिरिक्त उसे अन्य किसी स्त्री से बात नहीं करनी चाहिये और भूमिशयन करना चाहिये। इन नियमों के द्वारा होता या यज्ञदीक्षित

का व्यवहार मर्यादित होता था। यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये अनेक छोटी-छोटी बातों का पालन बड़ी सावधानी और एकाग्रता से करना चाहिये। केवल योग्यतम व्यक्ति ही इसमें पूरी तरह से सफल हो सकते हैं। किन्तु प्रत्येक गृहस्थ को भूतयज्ञ (पंचभूतों को आहुति देना), विश्वदेव (औपासनाग्नि में देवताओं को आहुतियाँ देना), पितृयज्ञ (पितरों का तर्पण करना), मनुष्ययज्ञ (अज्ञात और अप्रत्याशित यात्रियों का आतिथ्य-सत्कार करना) और ब्रह्मयज्ञ (शिक्षा और ज्ञान का प्रसार करना) इन पंच महायज्ञों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

सभी आश्रम यम और नियम से युक्त होते हैं। छूट केवल नियमों में ही मिल सकती है। उपर्युक्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने के पहले गृहस्थ को अन्य गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ताकि वह श्री और समृद्धि से युक्त हो सके। उसे अपने सभी कर्त्तव्यों का पालन पूरी लगन के साथ करना चाहिये। उसे अपने साथियों की सहायता करनी चाहिये और दाम्पतिक पवित्रता का निर्वाह करना चाहिये। उसे अपने व्यापार में निश्छल होना चाहिये और नैसर्गिक क्रियाओं का सम्पादन एकान्त में करना चाहिये। उसे सदाचरण का अभ्यास करना चाहिये और अपने पूर्वजों के कार्यों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। परिजनों की सेवा करने से, आश्रितों की देखरेख करने से, क्रूरता के परित्याग से, संकल्पों पर दृढ़ रहने से, सादगीपूर्ण जीवन बिताने से, सभी प्रकार के

असत्य का त्याग करने से, निर्भीक व्यवहार से, परिवार की सुरक्षा और प्रतिष्ठा को बढ़ाने से तथा इसी प्रकार के अन्य गुणों से दाम्पत्य जीवन दमक उठता है। गृहस्थ को ऐसी संगति से बचना चाहिये जो उसे कुमार्गी बनाए। उसे ऐसे स्थान में निवास करना चाहिये जहाँ वह नियमित जीवन बिताने के लिये वातावरण और आवश्यक उपकरण प्राप्त कर सके। कंजूस, नीच, बदले की भावना रखने वाले, झूठे, मक्कार, शक्की, उड़ाऊ और शास्त्रों एवं महात्माओं के वचनों की निन्दा करने वाले व्यक्तियों से गृहस्थ को दूर रहना चाहिये और उनकी बातों को नहीं सुनना चाहिये। उसे गप्पे हाँकने वालों के दल में नहीं जाना चाहिये। उसे झगड़ा नहीं करना चाहिये, स्त्रियों की भर्त्सना नहीं करनी चाहिए। उसे अविवाहित लड़कियों की आलोचना नहीं करनी चाहिये। पतिव्रता स्त्रियों, गुरुओं और सज्जनों की निन्दा करने से या अपंगों का उपहास करने से व्यक्ति में अनेक दुर्गुणों का संचार होता है। उसे ईश्वर-निंदा से बचना चाहिये। उसे आत्मश्लाघा नहीं करनी चाहिये और दूसरों के घर में किये गये भोजन की बुराई नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह एक सामञ्जस्यपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध बनाए रखे। इसके लिये उसे संतोषी, ईर्ष्याहीन, धैर्यवान्, शांत, दयालु, क्षमाशील और विनम्र बनना चाहिये तथा कृतज्ञ, संयमी और निश्छल होने का अभ्यास करना चाहिये। प्रथम वर्ण (ब्राह्मण) के गृहस्थ को अपने जीवन का निर्वाह 'ऋत' अर्थात् वेदों द्वारा निर्दिष्ट

साधनों के द्वारा, या 'अमृत' अर्थात् गुरुदक्षिणा के द्वारा, या 'मृत' अर्थात् भिक्षा के द्वारा करना चाहिये। दुर्दिन में ही वह 'प्रमृत' अर्थात् खेती करके अपने जीवन का निर्वाह कर सकता है। किन्तु घोर विपदा के अतिरिक्त उसे 'सत्यानृत' अर्थात् व्यापार अथवा 'श्ववृत्ति' अर्थात् नौकरी का आश्रय कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। महाभारत में कहा गया है कि ब्राह्मण के लिये धनसंग्रह करना खतरनाक है—'अनर्थो ब्राह्मणस्यैयद् अर्थनिचयो महान्'। मनुस्मृति में कहा गया है कि भले ही उसमें दान ग्रहण करने की योग्यता हो पर उसे दान लेने की आदत नहीं बना लेनी चाहिये—'प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्'। जो व्यक्ति इन नियमों का पालन करते हैं उन्हें 'महाब्राह्मण' और 'महा-श्रोत्रिय' माना गया है। शासन करने वाले क्षत्रिय के जीवन का नियमन भी धर्म ही करता था। वह भी समान रूप से वैदिक धर्म की शिक्षा ग्रहण करता था। जब राजा के प्रतिनिधि न्याय का उल्लंघन करते थे और उसके लिये दण्ड पाते थे तब भी राजा अपने दायित्व से मुक्त नहीं होता था। आर्यधर्म के अनुसार राजा केवल शाही निरंकुशवाद का प्रतीक मात्र नहीं है बल्कि वह धर्म का यंत्र है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच एवंविध सामञ्जस्य होने के कारण धर्म की प्रतिष्ठा व्यक्तिगत जीवन में भी हो गई थी और इससे पुरोहितवाद और राज्यशासन के बीच कोई खाई पैदा नहीं हो सकती थी।

ब्रह्मचर्य: इंद्रियनिग्रह और संयम के रूप में :—

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति उचित विधि से ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत कर विधिवत् गृहस्थाश्रम का पालन करे तो वह चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आश्रम के निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। छांदोग्य उपनिषद् (८।५) और याज्ञवल्क्य स्मृति (३।२०५) में भी इसकी पुष्टि की गयी है। इन्द्रियनिग्रह के रूप में ब्रह्मचर्य की धारणा पहले आश्रम के साथ जुड़ी हुई है। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य पवित्रता और संयम के रूप में प्रतिष्ठित है। संन्यासाश्रम में यह धारणा जितेन्द्रियत्व के रूप में युक्त है। इस तथ्य को भली भाँति समझ लेना चाहिये। आज जब ब्रह्मचर्य का महत्त्व कम होता जा रहा है तब उसकी पुनरावृत्ति निष्प्रयोजनीय नहीं है। यदि बारह से बीस वर्ष की आयु का विद्यार्थी ऐसे एक दयावान् और निष्ठावान् आचार्य के निरंतर सत्संग और निर्देशन में गुरुकुल में रहे जो स्वयं सदाचारी हो और सदाचरण की सीख देता हो तो बालक को असंयम की ओर कोई आकर्षण नहीं होगा। गुरुकुल के जीवन का प्रधान लक्ष्य शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक बल का निर्माण करना है। गुरु को उनके पूजा-कार्य में तथा उनकी पारिवारिक आवश्यकताओं में सहायता प्रदान करना शिष्य के न केवल भीतरी गुणों को प्रस्फुटित करता है बल्कि उसकी शारीरिक अभिरुचियों को भी निखार देता है। छांदोग्य उपनिषद् में (७।८) कहा गया है कि 'जब

उसमें बल का संचार होता है तब वह कार्यशील होता है और गुरु के पास जाता है। जब वह गुरु के पास जाता है तब वह वही देखता है जो उसे दिखाया जाता है और उनके शब्दों का श्रवण करता है। इससे वह समझता है, मनन करता है और निष्कर्ष पर पहुँचता है।' गुरु के साथ निरंतर रहने से उसका मन सभी प्रकार के अनुचित उत्तेजनों से बचा रहता है। गुरुकुल की प्रकृति उसे प्रलोभनों से बचाए रखती है और वहाँ के नियम सदैव उसके कार्यों को निर्धारित करते रहते हैं। सिर पर बढ़े हुए बाल रखने के कारण या मुण्डित रहने के कारण उसे कोई सौन्दर्यगत आकर्षण प्राप्त नहीं होता और शायद ही उसके मन में स्त्रीविषयक विचार उठते हों। मानवगृह्यसूत्र में कहा गया है कि विद्यार्थियों को स्त्री के स्पर्श से बचना चाहिये—'सर्वाणि सांस्पर्शिकानि स्त्रीभ्यो वर्जयेत्'। इसकी व्याख्या करते हुए अष्टावक्र ने स्त्रियों की ओर देखना और उनकी बातों को सुनना वर्जित बताया है।

'उपकुर्वाण' में यह अर्थ निहित है कि वह जिस ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा करता है उसका पालन एक विशेष प्रयोजन यानी विवाह के लिए किया जाता है। किन्तु गुरुकुल में नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी रहते थे जो विवाह के योग्य होते हुए भी संसार का त्याग कर आजन्म निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। इन्हें उन अपंग और अयोग्य व्यक्तियों की कोटि में नहीं रखा जा सकता जिनको जैमिनी और शबर ने विवाह के दायरे से बाहर रखकर उत्सन्न कर देना

चाहा था। प्राचीन स्मृतियाँ नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का समर्थन करती हैं। याज्ञवल्क्य प्रशंसा के साथ इसका उल्लेख करते हैं। भारत में पूर्ण ब्रह्मचर्य को उत्कृष्ट कोटि की तपस्या माना जाता है। जैसे जैसे व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसका स्वार्थ-त्याग भी बढ़ता जाता है। जो लोग अपने भीतर विशेष आध्यात्मिक भूख का अनुभव करते हैं वे स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन को अपना लेते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का मूल कर्त्तव्य बौद्धिक चिन्तन और आध्यात्मिक साधनाओं में लीन होकर पूर्णरूप से इन्द्रियनिग्रह करना और वीर्यवान् बनना है। इस दृष्टि से उसकी साधना उपकुर्वाण की साधना से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। वह पूरी तरह से विद्या और तपस्या में लीन हो जाता है। विद्या और तपस्या परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं और मन में कोई बाधा पैदा नहीं करते। वह या तो गुरुकुलनिष्ठ बनकर पूर्ववत् गुरु की सहायता करता रहता है अथवा आत्मनिष्ठा में संलग्न हो जाता है। वह स्वेच्छा से संन्यासी बनने के लिये स्वतंत्र रहता है। वह तीन बार स्नान करता है और निर्दिष्ट धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करता है। कृत्यकल्पतरु के ब्रह्म-चारिकाण्ड में स्त्रियों के प्रति अनुराग के तेरह प्रकार बताये गये हैं—"स्त्रीमध्य-निवासप्रवेश - अंगसंग-स्पर्श-दृष्टिमेलन-संदर्शन - तिर्यगालोकन - संकथन - प्रश्न-तद्वचन - आकर्णन - दूरावेक्षण - निकट भ्रमण - तज्जनप्रियवचनं च" नैष्ठिक ब्रह्मचारी इन समस्त प्रकार के अनुरागों से दूर रहता है।

गृहस्थ अपना आधा जीवन गृहस्थाश्रम में बिताकर और उसके सभी धार्मिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के बाद ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकता है। यदि उसकी पत्नी रजोनिवृत्त हो गयी हो तो वह भी उसका साथ दे सकती है। अन्यथा गृहस्थ उसे अपने ज्येष्ठ पुत्र के साथ रख सकता है। वानप्रस्थी जटा धारण करता है। वह वेदपाठ के अतिरिक्त अन्य सब समय मौन रहता है। वह बड़ी लगन से साधना में जुट जाता है और कंदमूल ग्रहण करते हुए अग्नि की पूजा चालू रखता है। यहाँ यह देखा जा सकता है कि वानप्रस्थी का जीवन उसके पूर्व आश्रम का ही सीमित रूप है—पर हाँ, घर-बार से कटा हुआ।

(अगले अंक में समाप्य)

—'प्रबुद्ध भारत' से साभार।

जीवन का रहस्य भोग में नहीं है, पर अनुभव के द्वारा शिक्षा-प्राप्ति में है।

— स्वामी विवेकानन्द

दक्षिणेश्वर की काली

कवि विलक्षण, अम्बिकापुर

(१)

दूर कर दुखद, दुर्भाव, दुःस्वप्न, अम्ब !
अन्तर को स्वच्छ कर विमल भाव भर दे।
ऊब कर अविद्या से तुझमें ही डूब जाऊँ,
रटूँ खूब नाम तेरा मुझे यही स्वर दे।
ऋद्धि-सिद्धि-कामना-प्रसिद्धि को किनारे रख,
सारे बन्धनों को खोल, मुक्तिमयी ! वर दे।
तेरी मति, तेरी गति तेरी शक्ति पाऊँ शीघ्र,
काली दक्षिणेश्वर की कृपा-कोर कर दे।

(२)

देखूँ, दक्षिणेश्वर का तेरा निवास माता,
ठाकुर[1] ने जहाँ तुम्हें जाग्रत बनाया था।
देखूँ, मैं तुम्हारी दिव्य ज्योति चिन्मयी, देवि !
जिसने नरेन्द्र[2] में विवेक प्रकटाया था।
देखूँ, वह गंगा की धारा और घाट दिव्य,
मल मल कर गात जहाँ प्रभु ने नहाया था।
देखूँ, पञ्चवटी जहाँ धूनी को जला के कभी
'न्याँगटा'[3] ने नियम तोड़ आसन जमाया था।

---

१. श्रीरामकृष्ण परमहंस २. स्वामी विवेकानन्द ३. श्रीरामकृष्ण के गुरु परमहंस तोतापुरी।

(३)

रानी रासमणि[1] की कहानी याद आती मुझे,
याद आती भक्ति मथुरनाथ विश्वास[2] की।
याद आती आधुओं की सभा, तर्क पण्डित के,
उक्ति सिद्ध साधक की, साधु की, पुजारी की।
याद आता रामलला[3] और अवधूत[4] एक,
आती है याद बात भैरवी[5] विरागिन की।
माता दक्षिणेश्वर की! बीते दिन आते याद,
और याद आती तेरे पागल पुजारी[6] की।

(४)

सतयुग में काली माँ! तेरे पूज्य चरणों में
पड़ा प्रणिपात सुरनाथ दैत्यहारी था।
त्रेता में उदारचेता धर्मप्राण रामचन्द्र
तुझे पूज रावण के लिये काल कारी था।
द्वापर में कृष्ण ने प्रतीति दी थी शक्ति की जो,
उसे जानता तो बस पार्थ धनुर्धारी था।
कलियुग में आकर दक्षिणेश्वर में काली माँ
तेरे चरणों का रामकृष्ण ही पुजारी था।

---

१. दक्षिणेश्वर के काली मंदिर की निर्मात्री २. रानी रासमणि के जामाता और श्रीरामकृष्ण के परम भक्त। ३. भगवान राम की बाल प्रतिमा, जिसके साथ श्रीरामकृष्ण खेला करते थे। ४. फेंकी गयी पत्तलों के जूठे अन्न को खाने वाला ब्रह्मज्ञानी साधु जो बाद में अदृश्य हो गया था। ५. श्रीरामकृष्ण को तंत्र-साधना की दीक्षा देने वाली उनकी प्रथम गुरु। ६. श्रीरामकृष्ण।

(५)

जानता हूँ, मैं तो हूँ अल्पज्ञ, अज्ञान - अन्ध ,
ज्ञान नहीं मुझको कुछ छन्द के विधान का।
भाव मन में हैं भरे, शब्द मिलते ही नहीं ,
कैसे दिखे रूप अम्ब ! काव्य - परिधान का।
जानता हूँ जगदम्बे ! खोल देती द्वार स्वयं
गुप्त और दुर्लभतर शाश्वत चिरज्ञान का।
माता दक्षिणेश्वर की ! शक्ति दो सुनाऊँ छंद
भक्ति - भाव - भरे रामकृष्ण भगवान का।

क्रोध एक प्रचण्ड अग्नि है। जो मनुष्य इस अग्नि को वश में कर सकता है वह उसको बुझा देगा। जो मनुष्य इसे वश में नहीं कर सकता वह स्वयं अपने को जला लेगा।

— महात्मा गाँधी

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर, रायपुर

निःस्पृहता

महाराष्ट्र-सिरमौर छत्रपति शिवाजी के एक वीर सेनापति ने कल्याण का किला विजित किया। नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के अलावा अटूट सम्पत्ति उसके हाथ लगी। एक सैनिक ने एक मुगल किलेदार की परम सुन्दरी बहू उसके समक्ष पेश की। वह सेनापति उस नवयौवना के सौंदर्य पर मुग्ध हो गया और उसने उसे शिवाजी को नज़राने के रूप में भेंट करने की ठानी। उस सुन्दरी को एक पालकी में बिठाकर वह शिवाजी के पास पहुँचा।

शिवाजी उस समय अपने सेनापतियों के साथ शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में बात चीत कर रहे थे। वह सेनापति उन्हें प्रणाम कर बोला, "महाराज! कल्याण में प्राप्त एक सुन्दर चीज़ आपको भेंट कर रहा हूँ।" और उसने उस पालकी की ओर इंगित किया।

शिवाजी ने ज्यों ही पालकी का परदा हटाया, उन्हें एक खूबसूरत मुगल नवयौवना के दर्शन हुए। उनका शीश लज्जा से झुक गया और उनके मुख से निम्न उद्गार निकले, "काश! हमारी माताजी भी इतनी ही खूबसूरत होतीं, तो मैं भी खूबसूरत होता!" फिर उस सेनापति को डाँटते हुए बोले, "तुम मेरे साथ रहकर भी मेरे स्वभाव को

न जान सके ? शिवाजी दूसरों की बहू - बेटियों को अपनी माता की तरह मानता है। जाओ, इसे ससम्मान इसके घर लौटा आओ"।

❁

निःस्वार्थता

रामशास्त्री प्रभुने का रहन-सहन अत्यन्त ही सादगी-पूर्ण था और यही सीख उन्होंने अपनी पत्नी को भी दी थी।

एक बार किसी उत्सव निमित्त उनकी पत्नी को पेशवा के अंतःपुर से निमंत्रण आया। वापस जाते वक्त रानी ने अन्य स्त्रियों की भाँति उसे भी बहुमूल्य वस्त्र तथा अलंकार दिये। वह रानी के आग्रह को टाल न सकी और उन्हें पहिनकर अपने घर आई।

रामशास्त्री द्वार में खड़े उसकी राह देख ही रहे थे। बहुमूल्य वस्त्र पहिनकर उसे आते देख उन्होंने द्वार अंदर से बंद कर लिया। उनकी पत्नी ने द्वार खोलने के लिए संकल खटखटाई।

"कौन है ?", अंदर से आवाज आई।

"मैं"—जवाब मिला।

"मैं कौन ?"

"आपकी पत्नी"

"तुम मेरी पत्नी नहीं हो। मेरी पत्नी न तो बहुमूल्य वस्त्र परिधान करती है और न कीमती अलंकार ही धारण करती है।"

वह बेचारी लज्जित हुई। तुरंत राजमहल को रवाना हुई। उसने रानी को अपने पति के स्वभाव से परिचित कराकर सविनय वे वस्त्र तथा अलंकार वापस किये तथा अपने नित्य के कपड़े पहिनकर घर आई। अपनी पत्नी को सादे वस्त्रों में देखकर रामशास्त्री ने उसे अंदर आने दिया।

प्रतिदान

गौतम बुद्ध एक बार राजगृह के वेलुवन नामक स्थान में ठहरे हुए थे। एक दिन एक ब्राह्मण, जिसका कोई संबंधी बौद्ध भिक्षुसंघ में शामिल हो गया था, उन्हें गालियाँ देने लगा। उसके खामोश हो जाने पर उन्होंने शांत भाव से उससे पूछा, "ब्राह्मण, क्या तुम्हारे यहाँ कोई अतिथि या बंधु - बांधव आता है ?"

"हाँ", ब्राह्मण ने उत्तर दिया।

"तुम उसके लिए अच्छी - अच्छी भोजन - सामग्री भी तैयार करते होगे ?"

"हाँ, करता हूँ।"

"अतिथि यदि उन चीजों को ग्रहण न करे, तो वे चीजें किसे मिलती हैं ?"

"वे हमारी चीजें होती हैं, अतः हमारे ही यहाँ रहती हैं।"

"तो बंधु, तुमने जो अभी - अभी गालियाँ दी हैं, उनका मैं भी उपयोग नहीं कर सकता, क्यों कि न तो मैं कभी किसी को गालियाँ देता हूँ और न कटु वचन ही कहता हूँ। भला बताओ, अब ये गालियां किसे मिलेंगी ?

तुम्हींको न? यह भी आदान-प्रदान की बात है। जो चीज़ तुमने दी, वह मैंने ली नहीं। अतः वे गालियाँ भी तुम्हें ही मिलीं।"

यह सुन उस ब्राह्मण का सिर लज्जा से झुक गया और उसने उनसे क्षमा माँगी।

अत्याचार किस तरह बढ़ता है?

एक बार नौशेरवाँ बादशाह ने एक गाँव के समीप अपना डेरा डाला। कबाब के लिए नमक न था, अतः उसने एक नौकर को बाजार से नमक लाने के लिए भेजा। जब नौकर जाने लगा, तो नौशेरवाँ ने उससे कहा, "देखो, नमक का दाम दे देना, नहीं तो ऐसा न हो कि हमारा मुल्क बरबाद हो जाये!" यह सुन उस नौकर को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उसने विनम्रता से पूछा, "बादशाह सलामत, एक पैसे के नमक का दाम न देने से मुल्क क्यों कर बरबाद हो सकता है?"

इसपर बादशाह ने कहा—

"राजा अंडे के लिए, करे जो अत्याचार।
तो फिर वाके लश्करी, मारैं मुर्ग हजार॥

यदि कोई राजा एक अंडे के लिए अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, तो लश्कर के लोग मुर्गे मारने में जरा भी हिचकिचाते नहीं। इसी प्रकार यदि आज मैं एक पैसे के नमक का दाम न दूँ, तो मेरे लश्कर के लोग भी मेरे नाम पर सैकड़ों मन नमक विना दाम लाते जायेंगे।

दुनिया में पहले अत्याचार बहुत कम था, किंतु अब बढ़ता जा रहा है, इसका यही कारण है।"

अपने लिए दूसरों को दुखी न करो

एक बार कुछ सिपाहियों ने मुहम्मद साहब का पीछा किया। उस समय उनके साथ केवल एक साथी था। उसने कहा, "हज़रत, वे समीप आ रहे हैं, अतः हमें सामने की खाई में छिप जाना चाहिए।" वे दोनों जब उस खाई के पास पहुँचे, तो उन्हें वहाँ एक मकड़ी का जाला दिखाई दिया। वह साथी उसे तोड़ते हुए खाई में घुसने ही वाला था कि मुहम्मद साहब ने उसे रोका और बोले, "दोस्त, खुदा के वास्ते इस जाले को न तोड़ो। बेचारी मकड़ी ने इस जाले को बनाने में काफी मेहनत की है, अतः इसे तोड़ना ठीक नहीं।"

किंतु उस मित्र को यह बात जँची नहीं। वह बोला, "समय कम है और अपनी जान बचाने के लिए इसे तोड़ना ही ठीक है। ऐसे समय पर दया तनिक भी नहीं बरतनी चाहिए।"

इसपर मुहम्मद साहब बोले, "तुम्हारा कहना तो ठीक है। किंतु अपनी जान बचाने के लिए दूसरे को दुख देना ठीक नहीं। ऐसे वक्त यदि हम दया न करें, तो कब करें?"

बात उसको जँच गई और वे दोनों उस जाले को तनिक भी धक्का दिये बिना उस जाले के नीचे जा छिपे।"

सिपाही जल्द ही वहाँ आये। उस खोह के ऊपर जाला देखकर उन्होंने सोचा कि यदि वे दोनों खोह में घुसे होते, तो वह जाला टूट गया होता, और वे आगे बढ़ गये।

❁

सच्चा न्याय

एक बार रात्रि के समय औरंगजेब अपनी शय्या की तैयारी कर ही रहा था, कि उसे शाही घंटी की आवाज सुनाई दी। ज्यों ही वह कमरे से बाहर आया, उसे एक दासी आती हुई दिखाई दी। वह बोली, "हुजूरे-आलम ! आदाब अर्ज ! काजी साहब आलमपनाह से मिलने के लिए दीवानखाने में तशरीफ लाये हैं और आपका इंतज़ार कर रहे हैं।

औरंगजेब तुरंत ही दीवानखाने में गया। काजी ने उसे बताया कि गुजरात जिले के अहमदाबाद शहर के एक मुहम्मद मोहसीन ने उनपर पाँच लाख रुपयों का दावा किया है। अतः उन्हें कल दरबार में हाजिर होना होगा। उसके जाने पर औरंगजेब विचार करने लगा कि उसने किसी से पाँच लाख रुपये उधार तो नहीं लिये हैं, किंतु उसे स्मरण नहीं हुआ। इतना ही नहीं, मोहम्मद मोहसीन नामक व्यक्ति को भी वह न पहचानता था।

दूसरे दिन दरबार भरा और मुज़रिम के रूप में औरंगजेब हाजिर हुआ। दरबार सारी प्रजा से भरा हुआ था और पैर रखने की जगह न थी। औरंगजेब को उसके जुर्म का ब्यौरा पढ़कर सुनाया गया।

बात यह थी कि औरंगजेब के भाई मुराद को गुजरात जिला सौंपा गया था। शाहजहाँ जब बीमार पड़ा, तो उसने स्वयं को ही गुजरात का शासक घोसित कर दिया। उसे स्वयं के नाम के सिक्के जारी करने के लिए पैसे की जरूरत हुई और उसने मुहम्मद मोहसीन से पाँच लाख रुपये उधार लिए थे।

औरंगजेब ने हिकमत करके शाहजहाँ को कैद कर लिया तथा अपने तीनों भाइयों—मुराद, दारा तथा शुजा-को कत्ल कर उन तीनों की संपत्ति अपने खजाने में जमा कर ली। इस तरह मोहसीन से लिए हुए रुपये भी उसके खजाने में जमा हो गए। और वह उन रुपयों का लेनदार था।

औरंगजेब ने इसपर अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। उसे मोहसीन के पास का दस्तावेज दिखाया गया और औरंगजेब ने जुर्म कबूल कर लिया। न्यायाधीश ने औरंगजेब को रुपये अदा करने की आज्ञा दी। औरंगजेब ने पहले से ही पाँच लाख रुपये शाही खजाने से निकाल लिए थे। उसने उन थैलियों को मोहसीन को देने के लिए पेश किया।

यह देख मोहसीन की आँखों में आँसू भर आये। वह झुककर अभिवादन करते हुए बोला, "जहाँपनाह, ये रुपये शाही खजाने में पुनः जमा कर दिये जायँ। यह रही रसीद। बादशाह के इंसाफ को देखकर मैं बड़ा ही शर्मिंदा हूँ।"

मेहनत की कमाई

महात्मा टालस्टाय एक बार बहुत साधारण से कपड़े पहने स्टेशन के प्लेटफार्म पर घूम रहे थे। एक स्त्री ने उन्हें कुली समझा और बुलाकर कहा, "यह पत्र लेकर सामने के होटल में मेरे पति को दे आओ। मैं तुम्हें दो रूबल दूँगा।"

टालस्टाय ने वह पत्र पहुँचा दिया और उन्होंने दो रूबल लिये ही थे कि उनका एक मित्र वहाँ आ पहुँचा और उसने 'काउंट' कह कर उन्हें अभिवादन किया। यह सुन उस स्त्री को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उसने उस नवा-गंतुक से पूछा, "यह कौन हैं?" टालस्टाय का परिचय प्राप्त कर वह महिला बेहद लज्जित हुई और उसने क्षमा माँगते हुए अपने रूबल वापस माँगे।

इसपर टालस्टाय हँसते हुए बोले, "देवीजी, क्षमा करना तो परमात्मा का काम है। मैंने काम करके पैसे लिए हैं। अपनी मेहनत की कमाई क्योंकर लौटाऊँ?"

दयालुता

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने एक मित्र के साथ सभा में जा रहे थे कि रास्ते में उन्हें एक गढ़े में एक सूअर का बच्चा कीचड़ में फँसकर तड़पता हुआ दिखाई दिया। वे तुरंत बग्घी से उतरे और उस गढ़े में उतरकर उन्होंने उस बच्चे को बाहर निकाला। सभा आरम्भ होने को कम समय था और उनके कपड़े गंदे हो

गये थे। वापस न जाकर उन्होंने हाथ-पैर धोये और सभा में पहुँचे। हर व्यक्ति उनके गंदे कपड़े देखकर उस मित्र से कारण पूछता और सारी घटना जानकर लिंकन के प्रति उनके दिल में आदर का भाव और बढ़ता रहता।

उनका परिचय कराते हुए सभा के आयोजक ने कहा, "हमारे राष्ट्रपति कितने दयालु हैं! एक सूअर के पिल्ले को गढ़े में तड़पते देखकर उन्होंने अपने कपड़ों की परवाह किये बिना उसे तुरंत बाहर निकाल लिया।"

वह वक्ता और आगे बोल ही रहा था कि लिंकन उठ खड़े हुए और बोले, "आप लोगों को कुछ गलतफहमी हुई है। वह पिल्ला तड़प रहा था, इसलिए नहीं वरन् उसे तड़पते देखकर मेरा स्वयं का अन्तःकरण तड़पने लगा था, अतः उसके लिए नहीं बल्कि मैं अपने लिए गढ़े में गया और उसे बाहर निकाल लिया।"

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योपि संपदः।
पूर्णेन्दुः किं तथा वन्द्यो निष्कलंको यथा कृशः॥

— गुण की पूजा सर्वत्र होती है, बड़ी सम्पत्ति की नहीं; जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा वैसा वन्दनीय नहीं है जैसा निर्दोष द्वितीया का क्षीण चन्द्रमा।

— चाणक्य

पारसी - धर्म

श्री एन० बी० छोर, बी. ई.

(स्वामी विवेकानन्द की १०४थी जन्मतिथि के उपलक्ष में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा बड़े पैमाने पर चतुर्दिवसीय विवेकानन्द - जयन्ती - महोत्सव मनाया गया था। समारोह के चौथे और अन्तिम दिन २९ जनवरी को एक सर्वधर्मसम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसमें विश्व के आठ प्रमुख धर्मों के प्रवक्ताओं ने भाग लिया था। प्रस्तुत लेख पारसी धर्म पर उक्त अवसर पर पढ़े गये अंग्रेजी लेख का अनुवाद है।)

देवदूत जरथुस्त्र ने पारसी - धर्म का प्रवर्तन किया था। ग्रीक भाषा में जरथुस्त्र को 'जोरास्टर' कहा जाता है और उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म को 'जोरास्ट्रियन' धर्म भी कहते हैं। आज से लगभग २७०० वर्ष पहले यानी ईसा पूर्व ७०० ईस्वी में ईरान में जरथुस्त्र का जन्म हुआ था। जरथुस्त्र शब्द अवेस्ता भाषा के 'जर' और 'थुस्त्र' नामक शब्दों से मिलकर बना है। 'जर' का अर्थ होता है स्वर्ण या चमकीला और 'थुस्त्र' का अर्थ है तारा। इस प्रकार जरथुस्त्र का अर्थ है स्वर्ण तारक या चमकीला तारा।

पारसी जाति के पास ईरान में २१ धर्मग्रन्थ थे। उनमें केवल एक ग्रन्थ का थोड़ा सा अंश ही सुरक्षित है। इस अंश को चार ग्रन्थों का रूप दिया गया है। पहले ग्रंथ का नाम ,खोर्द अवेस्त' है। इस ग्रन्थ में ३३ विभिन्न देवताओं के अलग अलग पूजा - अर्चन की विधि लिखी हुई है। दूसरे

ग्रन्थ 'यस्न' में ७२ अध्याय हैं। पारसी लोग अपनी कमर में ७२ तारों वाली पवित्र करधनी 'कुस्ती' पहनते हैं। कुस्ती के बहत्तर तागे इस ग्रन्थ के ७२ अध्यायों के प्रतीक हैं। इस ग्रन्थ के १७ अध्यायों को 'गाथा' कहा जाता है। 'गाथा' के सत्रह अध्यायों की तुलना यदि गीता से की जाय तो उनमें बहुत सी बातें समान मिलेंगी। विद्वानों ने गाथा और गीता की शिक्षाओं के समान स्थल ढूँढ़ निकाले हैं। तीसरे ग्रंथ 'वीसपरद' में २३ अध्याय हैं और चौथे ग्रंथ 'वेंदीदाद' में २२ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में पारसी धर्म के नियम - विधान लिखे हुए हैं।

इस धर्म का जन्म ईरान के पारस नामक स्थान में हुआ था, इसलिये इसे पारसी धर्म कहा जाता है। आज से १२५० वर्ष पूर्व, ७१६ ईस्वी में पारसी जाति अपना धर्म बचाये रखने के लिये गुजरात क संजान नामक स्थान में आई थी और तत्कालीन हिन्दू शासकों की सहायता से वहीं पर बस गयी थी। तब से पारसा निरन्तर हिन्दुओं के आचार-विचार को अपनाते रहे हैं। आज तो गुजराती ही उनकी मातृभाषा बन गयी है। पारसियों की एक विवाह-संकार की प्रार्थना का अनुवाद संस्कृत में किया गया है। विवाह के अवसर पर वर-वधू को आशीर्वाद देते समय इसीका उच्चारण किया जाता है।

संसार भर में कुल एक लाख तीस हजार पारसी रहते हैं। इनमें लगभग एक लाख पारसी भारत में, सत्रह हजार ईरान में, आठ हजार पाकिस्तान में, एक हजार इंग्लैण्ड

में और चार हजार विश्व के अन्य भागों में निवास करते हैं।

किसी भी जाति अथवा राष्ट्र का प्राणकेन्द्र उसका धर्म होता है। जब तक कोई देश अपने धर्म पर दृढ़ है तथा उसे अपने दैनंदिन जीवन में उतारता है तब तक कोई भी विपदा उसका अस्तित्व संसार से नहीं मिटा सकती। यद्यपि पारसी देश ने अनेक दुर्दिनों को देखा है और दुर्भाग्यों को सहा है फिर भी वे सदैव अपने धर्म पर दृढ़ रहे हैं। यही कारण है कि संख्या में कम होते हुए भी पारसी जाति का आज अपना विशिष्ट अस्तित्व है। जरथुस्त्र का धर्म और उनका महान् संदेश इतिहास के सभी युगों में पारसी जाति का पथ-प्रदर्शन करता रहा है।

पारसी धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह एकेश्वरवाद पर आधारित है। जिस समय यूरोप और एशिया के देश मूर्तिपूजा में लगे हुए थे तब जरथुस्त्र ने परमशक्ति के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान सत्ता को जरथुस्त्र ने 'अहुरमज्द' कहा। जरथुस्त्र ने अन्य पैगम्बरों से बहुत पहले एक ऐसे समय में एकेश्वरवाद का पाठ पढ़ाया था जब दूसरे देश सृष्टि और स्रष्टा के रहस्य के सम्बन्ध में अंधकार में भटक रहे थे।

पारसी यह घोषित करता है कि वह सर्वज्ञ मज्द का उपासक है। यस्न के एक अध्याय में कहा गया है कि अहुरमज्द की पूजा और वंदना के समान महान् और

पावन कार्य कोई दूसरा नहीं है। देवदूत जरथुस्त्र कहते हैं, "हे अहुरमज्द, मैं जानता हूँ कि तुम सर्वोत्कृष्ट हो, परमपूज्य हो और महत्तर मेधा से सम्पन्न हो।"

पुरस्कार और दण्ड का चिरन्तन नियम पारसी - धर्म की दूसरी महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। 'अश' या प्रकृति के अकाट्य नियम के अनुसार सज्जन और साधु व्यक्तियों को पुरस्कार मिलता है तथा पापियों और दुर्जनों को सजा मिलती है। यस्न में कहा गया है कि "पापी दुःख के और पुण्यात्मा सुख के भागी होंगे।" किन्तु पारसी - धर्म ग्रंथों में ऐसा प्रलोभन कहीं भी नहीं दिया गया है कि जो व्यक्ति जरथुस्त्र की शिक्षाओं को स्वीकार करेगा वह अपने कर्म के फलों को भोगे बिना सीधे स्वर्ग चला जाएगा। जरथुस्त्र का भरतवाक्य है—"जैसा करोगे वैसा भरोगे।"

पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता पारसी धर्म की दूसरी महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। यह धर्म हमें सिखाता है कि मृत्यु से केवल मानव शरीर के भौतिक तत्त्वों का ही नाश होता है। किन्तु हमारी आत्मा अपनी समस्त आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के साथ एक नया शरीर धारण करती है। शरीर के माध्यम से हमने जो कर्म किया है उसके फलों का भोग यह नया शरीर करता है। संसार में रहकर मनुष्य जिन कर्मों का सम्पादन करता है वे ही उसके आगामी जीवन के एकमेव निर्माता होते हैं। मनुष्य कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, पर वह इस चिरन्तन नियम को नहीं बदल सकता।

विख्यात विद्वान् सैमुअल लेइंग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए मॉडर्न जोरास्ट्रियन' में लिखा है, "जोरास्ट्रियन धर्म की नैतिक मान्यताएँ उतनी ही पवित्र हैं, जितना कि उसका सिद्धान्त पूर्ण है। यह स्पष्ट है कि अन्य धर्मों की अपेक्षा ये नैतिक मान्यताएँ अधिक समग्र और व्यापक हैं। इसमें बुद्ध धर्म, यहूदी धर्म और ईसाई धर्म की उत्कृष्टतम मान्यताओं का सुन्दर परिपाक हुआ है तथा अनेक सद्‌गुणों एवं दुर्गुणों की स्पष्टतर व्याख्या की गयी है।"

धर्म की वास्तविक महत्ता का आधार उसका नैतिक सिद्धान्त होता है। जरथुस्त्र द्वारा प्रवर्तित धर्म में नैतिकता की उदात्त शिक्षाओं और मान्यताओं का समावेश हुआ है। पारसी नैतिकता का महान् भवन 'हुमत' अर्थात् अच्छे विचार, 'हुख्त' अर्थात् अच्छे शब्द और 'हुवर्श्त' अर्थात् अच्छे आचार की भित्ति पर टिका हुआ है। यह बात ध्यान देने की है कि जरथुस्त्र ने इसप्रकार की उदात्त नैतिकता की शिक्षा २७०० वर्ष पहले के प्राचीन युग में दी थी। कहा गया है कि जिसप्रकार अग्नि सूखी लकड़ी को जला देती है उसीप्रकार दैवी आवेश से प्रेरित वाणी और विचार मनुष्य के बुरे बिचारों, शब्दों और कार्यों का नाश कर देते हैं।

पारसी धर्म की उल्लेखनीय शिक्षा यह है कि मनुष्य को पारिवारिक जीवन और संसार का त्याग नहीं करना चाहिये। यह धर्म स्वार्थप्रेरित एकान्तवास की अपेक्षा चिन्ताओं और विपदाओं के बीच पुरुषार्थ पूर्वक जीवन

बिताने को अधिक अच्छा समझता है। संसार एक युद्धक्षेत्र है। यहाँ सदैव शुभ और अशुभ शक्तियों का द्वंद्व चलता रहता है। पारसी धर्म सिखाता है कि मनुष्य को सदैव शुभ शक्ति का पक्ष ग्रहण कर अशुभ शक्तियों का मुकाबला करना चाहिये। मनुष्य पारिवारिक और सामाजिक जीवन में ही परिश्रम, सहिष्णुता, धैर्य और स्वार्थत्याग जैसे सद्-गुणों का विकास कर सकता है। अशुभ शक्तियों का मुकाबला करने के लिये ये गुण परमावश्यक हैं। जरथुस्त्र का सूत्र-वाक्य है—"संसार में रहो पर संसार में डूबो मत।"

पारसी धर्म के अनुष्ठानों में गोमूत्र का बड़ा महत्त्व है। भारत आने पर पारसी जाति के पुरोहित गुजरात के राजा जादवराणा से मिले थे और १६ संस्कृत के श्लोक रचकर उन्होंने अपनी जाति का परिचय उन्हें दिया था। उनमें से एक श्लोक का अर्थ इसप्रकार है: "आन्तरिक और बाह्य रूप से पवित्र होने के लिये वे मंत्रपूत गोमूत्र को सिर और चेहरे में लगाते हैं और स्त्रियों के द्वारा दिये गये कूप के जल में स्नान करते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि पारसियों के दैनंदिन जीवन में गोमूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पारसी प्रातःकाल उठते ही अपनी अँजलि में गोमूत्र लेते हैं। फिर वे उसे मंत्राभिषिक्त करते हैं और अपने हाथ, मुख और पैरों में उसका लेपन करते हैं। स्नान करने से पहले सारे शरीर में गोमूत्र का लेप किया जाता है। पवित्र गोमूत्र तैयार करने के लिये पारसी 'निरंग दिन' नामक एक अनुष्ठान का आयोजन करते हैं। जिस सफेद बैल के

शरीर में एक भी काला चिह्न नहीं है और जिसके एक भी काला बाल नहीं है उसके मू को भी मंत्राभिषिक्त किया जा सकता है। ऐसा बैल बहुत कम मिलता है। २५ या ३० अन्य गायों के मूत्रों को अलग-अलग बर्तनों में रखा जाता है और फिर उन्हें सफेद बैल के मूत्र में मिला दिया जाता है। इसके बाद दो पुरोहित इसे मंत्राभिषिक्त करने के लिये अनुष्ठान करते हैं। इस विधि से तैयार किया गया गोमूत्र वर्षों तक शीशियों में रखा जाता है पर उसमें कोई विकार नहीं आ पाता। इस गोमूत्र का उपयोग उपनयन, विवाह और मृत्यु के अवसर पर शरीर और आत्मा को पवित्र बनाने के लिये किया जाता है।

पारसी साहित्य में भौतिक विश्व के चार महाभूतों–अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी को पवित्र बनाये रखने के लिये सूक्ष्म निर्देश दिये गये हैं। यदि इनमें से कोई एक तत्त्व भी अपवित्र हो जाता है तो उससे प्राणियों का अकल्याण होता है। इसलिये इन तत्त्वों को शुद्ध बनाए रखने के हेतु जरथुस्त्र ने विशद रूप से सिद्धान्तों और नियमों का उपदेश किया है।

पारसी-मंदिरों में अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इस आधार पर कई लोग पारसियों को अग्निपूजक मानते हैं। पर यह सच नहीं है। पारसी अग्नि को अहुरमज्द का प्रतीक समझते हैं और उसके सामने अपनी प्रार्थनाएँ करते हैं। पारसी धर्म में तीन प्रकार की अग्निवेदियों का उल्लेख हुआ है। पहले प्रकार की अग्निवेदी को ‘आतश

बहराम' अर्थात् विजय प्रदान करनेवाली अग्नि कहते हैं। इसप्रकार की अग्निवेदी निर्मित करने के लिये १६ प्रकार की अग्नियाँ १६ पात्रों में प्रज्वलित की जाती हैं और १६ युग्म पुरोहित कई दिनों तक धार्मिक अनुष्ठान करते रहते हैं। फिर ये अग्नियाँ मिला दी जाती हैं और एक अलग कमरे में इस अग्नि - वेदी को स्थापित कर दिया जाता है। वहाँ यह अग्नि अनंत काल तक जलती रहती है। संसार में इसप्रकार की नौ अग्नि-वेदियाँ हैं जहाँ वर्षों से अग्नि प्रज्वलित है। दूसरे प्रकार की अग्निवेदी को 'आतश आदरान' कहते हैं। इसमें चार प्रकार की अग्नियों को प्रज्वलित किया जाता है और अनुष्ठान पूर्वक इन चारों को मिलाकर 'आतश आदरान' बनाया जाता है। तीसरे प्रकार की अग्नि 'आतश दादगाह' कहलाती है। यह सामान्य अग्नि होती है तथा एक अलग कमरे में प्रज्वलित रहती है।

यद्यपि पारसी जाति अल्पसंख्यक है किन्तु सुदीर्घ काल से इसका अस्तित्व बना हुआ है। इसका कारण यह है कि यह जाति अपने धर्म में दृढ़ है और उसे अपने जीवन में उतारती है।

तीन सबसे बड़ी उपाधियाँ जो मनुष्य को दी जा सकती हैं। वे हैं—शहीद, वीर और सन्त।

— ग्लैड्स्टन

दर्प-नाश

आज देवलोक में आनन्द का साम्राज्य छाया हुआ है। इन्द्रपुरी जगमगा उठी है। देवगण आनन्द में फूले नहीं समा रहे हैं। चारों ओर उत्साह और उल्लास बिखरा हुआ फिर रहा है। ऐसा क्यों न हो। दुर्धर्ष संग्राम के पश्चात् देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की है। असुरों ने ऐसे मुँह की खाई है कि अब कभी देवपुरी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेंगे।

इस विजय के नशे ने देवताओं को गर्वोन्मत्त बना दिया है। सब एक दूसरे से बढ़-चढ़कर अपनी बहादुरी का बखान कर रहे हैं। हर एक दूसरे को नीचा दिखाकर अपनी श्रेष्ठता साबित करना चाहता है। अभिमान और ईर्ष्या में चोली दामन का नाता है। अग्निदेव और वायु-देवता में पहले परस्पर अनन्य प्रेम था किन्तु आज वे एक दूसरे को फूटी आँख नहीं सुहा रहे हैं। अग्निदेव सोचते हैं कि विजय का सेहरा उनके ही कारण हाथ लगा है। वे अगर अपने तेज से असुरों को झुलसाकर भगा न देते तो क्या मजाल थी कि देवगण जीत पाते। किंतु वायुदेवता का दावा है कि विजयश्री उनके पराक्रम के फल स्वरूप हाथ लगी है। उन्होंने ही असुरों को अपनी शक्ति से उड़ा कर पटक-पटककर उनका कचूमर निकाल दिया था।

लोग कहते हैं ईर्ष्या और प्रेम सहोदरा हैं किंतु ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार देव और असुर गण आपस में भाई हैं। ईर्ष्या प्रेम से प्रारंभ तो होती है पर उसके साथ समाप्त नहीं होती। आत्मश्लाघा ही आज अग्नि और वायु के प्रेम के बीच दीवार बनकर खड़ी हो गई थी। किन्तु विजय का खुमार अगर सबसे ज्यादा चढ़ा था तो वह था देवराज इन्द्र पर। वज्र के दुर्दमनीय प्रहारों से उन्होंने दुश्मनों के दाँत खट्टे कर दिये थे। उन्हें छठी की याद दिला दी थी। उनके असाधारण सैन्य-संचालन और रणकौशल के कारण ही यह दिन नसीब हो सका था।

देवगण एक साथ बैठे हुए थे। अचानक एक ने कहा, "आकाश में वह क्या है?" सबकी दृष्टि आकाश की ओर गई। आश्चर्य से विस्फारित नेत्रों से सब देखते रह गए। अनुपम तेज लिए हुए एक विशाल काय यक्ष आकाश में विराजमान थे। अनेक अलंकारों से विभूषित उनकी आभा चहुँओर बिखर रही थी। चेहरे से अलौकिक गांभीर्य झलक रहा था। देवगण उनके तेज से दग्ध होने लगे। ऐसा अनुपम पुरुष उन्होंने आज तक नहीं देखा था। सभी एक दूसरे से पूछने लगे, "ये कौन हैं? किसलिए आये हैं?" पर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि समीप जाकर पता लगा आयें। इन्द्र के सम्मुख अग्नि विराजमान थे। अग्नि स्वयं परम तेजस्वी तथा वेदों के ज्ञाता हैं। वे समस्त पदार्थों का ज्ञान रखते हैं इसीलिए उनका नाम 'जातवेदा' भी है। अतः इन्द्र ने उनसे कहा, "हे जातवेदा, आपके लिए किसी

भी वस्तु का ज्ञान असंभव नहीं है। अतः आप जाकर पता लगाइये, ये यक्ष कौन हैं ?"

अग्निदेव मद में वैसे ही फूले हुए थे। उन्हें अपने बुद्धि-ज्ञान का बड़ा गर्व था। इन्द्र की इस उक्ति ने उन्हें फुलाकर कुप्पा कर दिया। देवताओं की ओर अभयपूर्ण मुद्रा में देखकर वे इन्द्र से बोले, "मैं अभी जाकर पता लगाता हूँ।"

अग्निदेव यक्ष के सामने जाकर अकड़कर खड़े हो गये। यक्ष ने उनकी ओर सामान्य दृष्टिपात करते हुए कहा, "तुम कौन हो ?" 'सारा विश्व जिसके भय से काँप उठता है, जिसके स्पर्श मात्र से सब कुछ दग्ध हो जाता है, उससे ये पूछते हैं कि तुम कौन हो ?' अग्नि के अहं को बड़ी चोट लगी। दर्पयुक्त वाणी में उन्होंने कहा, "मैं चिर प्रसिद्ध अग्नि हूँ।" किन्तु इतना कहकर ही अग्निदेव को संतोष नहीं हुआ। यक्ष की ओर तीक्ष्ण दृष्टि फेंककर बोले, "लोग मुझे जातवेदा के भी नाम से जानते हैं।"

यक्ष अनजान की भाँति बोले, "अच्छा, आप अग्नि हैं और सबका ज्ञान रखनेवाले जातवेदा भी आप ही हैं। बड़े आनन्द की बात है कि आपके दर्शन हुए। तो यह बतलाइये आप क्या कर सकते हैं ? अपने सामर्थ्य का बोध कराइये।" यक्ष की अज्ञानता पर अग्निदेव को बड़ा क्रोध आया। किसी तरह अपने को संयत करके बोले, "मैं इस सारे जगत् में स्थावर-जंगम जो भी पदार्थ हैं उनको क्षण भर में जलाकर राख कर सकता हूँ।"

एक क्षीण हास्य की रेखा यक्ष के कांतिमय मुख में विद्युल्लता की भाँति कौंध गई। वे बोले, "सारे जगत् ने आपका क्या बिगाड़ा है, उस पर दया कीजिये। हाँ, यह छोटा सा सूखा तिनका है, इसे अपनी शक्ति लगाकर जला दीजिये।" यक्ष की व्यंगोक्ति से अग्निदेव तिलमिला गये। उन्होंने पलक मारते ही तिनके को जला देना चाहा। पर तिनके को आँच तक न आई। अब उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी उस तिनके के पीछे। उनकी देह से पसीने की धार बह निकली। सारे विश्व को पल भर में खाक कर देने वाले अग्निदेव एक सूखा तिनका भी नहीं जला पाये। और वे जला भी कैसे पाते? उनके अन्दर जो दाहिकाशक्ति है वह उनकी स्वयं की तो है नहीं। वह तो परब्रह्म परमेश्वर की शक्ति है। उसी शक्ति के फलस्वरूप उनमें जलाने की क्षमता है तथा उसी शक्ति के कारण उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त की थी। गर्व के मद में वे भूल बैठे थे कि जिसे वे अपनी ताकत समझते रहे हैं, वह वास्तव में उनकी नहीं वरन् परब्रह्म की है। उनके इस अहंकार का नाश करने के लिए परब्रह्म परमेश्वर यक्ष का रूप धारण कर अवतरित हुए थे और उन्होंने अग्नि की समस्त दाहिकाशक्ति तिरोहित कर ली थी।

अग्निदेव अपना-सा मुँह लेकर लौट आए। उनका बुझा हुआ चेहरा देखकर देवगण समझ गए कि इन्हें कार्य में सफलता नहीं मिली। उन्होंने आकर इन्द्र से कहा, "मैं नहीं जान सका वे यक्ष कौन हैं?" वे सिर झुकाकर

बैठ गए। ऐसी हार उन्होंने कभी नहीं खाई थी। देवगण उनकी दशा देखकर स्तब्ध हो गये थे, किंतु वायुदेव की बाछें खिल रही थीं। अग्निदेव की पराजय को देखकर वे मन ही मन मुस्कुरा रहे थे। ईर्ष्या है ही ऐसी वस्तु जो दूसरों की उन्नति में दुख मनाती है तथा दूसरों के कष्ट में खुशी के दिये बालती है।

इन्द्र ने वायु से कहा, "हे वायुदेव, आप तो सर्वत्र गमन करते हैं। अंतरिक्ष में बिना आधार के यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करने के कारण आपने मातरिश्वा जैसा गौरवयुक्त नाम पाया है। बुद्धि में भी आपका सानी कोई नहीं रखता। आप ही इस अलौकिक व्यक्ति का परिचय प्राप्त कर आइये।" अपनी प्रशंसा सुनकर वायुदेव की छाती दोहरी हो गई। मन बल्लियों उछलने लगा। वे बोले, "यह तो सामान्य-सा कार्य है। मैं अभी पता लगा आता हूँ।"

वायुदेव ने सोचा, अग्निदेव शायद कहीं गल्ती कर गये। अच्छा हुआ जो उन्हें इस यक्ष का परिचय नहीं मिला। अब तो सारा श्रेय मुझे ही मिलेगा। देवगणों के बीच श्रेष्ठत्व भी मुझे ही प्राप्त होगा। खयाली पुलाव बनाते हुए वायुदेव यक्ष के समीप पहुँचे।

यक्ष ने पूछा, "आपका परिचय?" "मेरा परिचय, आपको नहीं मालूम मैं कौन हूँ? यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त मैं वायु हूँ। मेरा प्रसिद्ध गौरवशाली नाम मातरिश्वा है", वायुदेव ने दर्पयुक्त वाणी में कहा।

"अच्छा, अच्छा, आप मातरिश्वा हैं", यक्ष ने अन-जान बनते हुए कहा, "आप क्या काम कर सकते हैं?" वायुदेव को यक्षराज की बुद्धि पर तरस आया। "कैसे मूर्ख व्यक्ति से पाला पड़ गया है," वायुदेव ने सोचा। वे बोले, "मैं समस्त विश्व में जो कुछ भी पदार्थ हैं, उन्हें उड़ा दे सकता हूँ। बड़े बड़े शैल - शिखरों को चूर - चूर कर दे सकता हूँ। मेरी इच्छामात्र से नक्षत्रों के टुकड़े टुकड़े हो सकते हैं। इस सृष्टि को बनाना - बिगाड़ना मेरे बायें हाथ का खेल है।"

"अच्छा," भोलेपन से यक्ष बोले, "तब तो आप यह तिनका भी उड़ा दे सकते हैं? जरा उड़ाकर बतलाइये ना।" वायुदेव सिर पीटकर रह गए। कहाँ उन्होंने पहाड़ों को उड़ाने की बात बतलाई तो यह यक्ष तिनका उड़ाने की कहता है। उपेक्षाभरी दृष्टि यक्ष पर डालकर वायुदेव आगे बढ़े। उन्होंने चाहा कि क्षण मात्र में तिनके को उड़ाकर ध्वस्त कर दें। किंतु वह तिनका ज्यों का त्यों पड़ा रहा। उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी पर तिनका टस से मस नहीं हुआ। लज्जित और हतप्रभ होकर वायुदेव भी लौट आए। उनका लटका हुआ चेहरा देखकर देवगण जान गए कि ये भी यक्ष को नहीं जान पाये।

अब देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की, "हे देवाधिदेव, अब आप ही जाकर, सत्य को उद्घाटित कीजिये। आप अतुल बलशाली हैं, तभी तो आप 'मघवा' के नाम से परि-चित हैं। आपके अतिरिक्त इस रहस्यमय व्यक्ति का पता

कोई नहीं लगा सकता।" अपना प्रशस्तिगान सुनकर इन्द्र का चेहरा गर्व से दीप्त हो उठा। वे मंथर गति से यक्ष की ओर बढ़े।

जैसे ही देवराज यक्ष के समीप पहुँचे कि यक्ष वहाँ से अन्तर्धान हो गये। यह देखकर इन्द्र का मन वेदना से भर गया। उनका सारा अहंकार जाता रहा। वे सोचने लगे, "क्या यक्ष ने मुझे इतना हीन समझा कि दर्शन देना भी उचित नहीं जाना, मुझे वार्तालाप करने योग्य भी नहीं माना।" पश्चात्ताप की आग में उनके अन्दर का अहंरूपी कल्मष बह निकला। वैसे देवराज विवेकी पुरुष थे, किंतु अहंकार रूपी पर्दे ने उनके विवेक को आच्छादित कर रखा था। आन्तरिक व्याकुलता से माया का झीना आवरण हट गया। उसी समय उन्होंने देखा, स्वच्छ आकाश में यक्ष की जगह, दिव्य आभा लिए हुए परम करुणामयी हैमवती उमा खड़ी हैं। उनकी स्निग्ध कांति से चारों दिशाएँ आलोकित हो रही हैं। देवराज उनका दर्शन पाकर गद्गद् हो गये। उन्होंने श्रद्धायुक्त हो देवी को प्रणाम किया और बोले, "भगवती! आपतो देवाधिदेव, सर्वज्ञ शिरोमणि भगवान शंकर की शक्ति स्वरूपा हैं। आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। आप कृपा कर बतलाइये कि ये दिव्य यक्ष कौन थे? उन्होंने मेरे सहयोगी देवताओं को तो दर्शन दिया किन्तु मुझे देखकर विलुप्त हो गये।"

भगवती उमा बोलीं, "तुमने जिन दिव्य यक्ष का दर्शन किया है, वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। तुम लोगों ने

असुरों पर जो विजय प्राप्त की है, वह उनकी ही कृपा के फलस्वरूप सम्भव हुआ क्योंकि तुम्हारे अन्दर कार्य करने-वाली शक्ति वास्तव में उनकी ही शक्ति थी। तुम्हारी जीत वस्तुतः ब्रह्म की ही जीत थी। तुम लोग तो निमित्त मात्र थे। किन्तु तुम लोग इसे भुला बैठे। इसीलिए परम कारुणिक प्रभु ने यक्ष का रूप धारण करके तुम लोगों के मिथ्याभिमान को दूर करना चाहा। तभी तो उन्होंने अग्नि और वायु का दर्प चूर्ण किया। अतः यह जान लो कि वास्तव में तुम लोग उस परब्रह्म को ही शक्ति से शक्तिमान् और महिमा से महिमान्वित हुए हो। उनकी ही कृपा से अग्नि की दाहिकाशक्ति है और वायु की विचरणशक्ति। उनके बिना स्वतंत्रशक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं है।"

इन्द्र की आँखों पर पड़ा पर्दा हट गया। ब्रह्म का अनिर्वचनीय तथा सर्वशक्तिमत्ता का वे अनुभव करने लगे। वे जान गए कि जो शक्ति उनके अंदर कार्य कर रही है, वह ब्रह्म की ही शक्ति है। व्यक्ति केवल यंत्र है। ब्रह्म यंत्री हैं। व्यक्ति रथ है, ब्रह्म रथी हैं। ब्रह्मज्ञान से उद्बुद्ध हो वे देवताओं के पास पहुँचे और उनके स्वरूप का निरूपण किया।

इन्द्र देवों में अग्रणी थे तथा ब्रह्म के बारे में जानने वाले प्रथम देवता थे। इसीलिए वे देवों में सर्वश्रेष्ठ हुए। उन्होंने साक्षात् ब्रह्मविद्यारूपिणी उमा के द्वारा ब्रह्म का संस्पर्श प्राप्त किया था। अग्नि और वायु को भी अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठत्व प्राप्त हुआ क्योंकि उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार करने तथा उनसे वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

संत कबीर

श्री रामेश्वर नन्द

प्रत्येक युगपुरुष, नेता या समाज - सुधारक का जीवन अपने समय की क्रिया - प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होता है। वे अपने युग की विशेष समस्याओं का समाधान करने के लिये आते हैं। इसलिये उनके जीवन और कार्य का महत्त्व उनके समय की भूमिका पर अधिक स्पष्ट दिखता है। संत कबीर ऐसे ही समाजसुधारक थे। कबीर - कालीन जनजीवन का चित्रण करते हुए डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित लिखते हैं, 'भारत में नवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी का युग संक्रांति काल था। देश पर गजनी, गोरी आदि के आक्रमण हुए; गुलाम, खिलजी, तुगलक आदि बंशों के सुलतानों का शासन रहा। इसी समय बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ, सूफी संप्रदाय का प्रचार हुआ। प्रायः इसी समय शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट जैसे विरोधी प्रचारकों द्वारा बौद्ध धर्म निर्बल सा हो गया था तथा जैन धर्म और शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के भीतर भिन्न संगठन हो रहे थे। सुलतानों के स्वेच्छाचारी शासन के संघर्ष - युग में उचित मार्ग दिखलानेवाला कार्य, परस्पर - विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय कर स्थायी एवं सार्वभौम आदर्श रख सकने वाली व्यक्ति ही कर सकता था।"

मुसलमानों द्वारा धर्मप्रचार के नाम पर हिन्दू जनता में तरह - तरह के अत्याचार किये जा रहे थे। हिन्दू जीवन अनेक

प्रकार की विपत्तियों से घिरा हुआ था। एक ओर उनपर मुसलमान अत्याचार कर रहे थे और दूसरी ओर वे स्वयं धर्म के नाम पर बाह्याचारों और आडम्बरों का शिकार हो गये थे। हिन्दू धर्म ब्रह्मवादी, कर्मकांडी, शैव, शाक्त, स्मार्त तथा अन्यान्य सम्प्रदायों में बँट गया था। हिन्दुओं की धार्मिक भावना तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार में ही सीमित हो गयी थी।

ऐसे समय में संत कबीर का जन्म होता है। वे हिंदू-मुसलमानी धर्म, दर्शन और चिन्तन की मिश्रित पृष्ठ-भूमि में अपना कार्य करते हैं। उनकी आलोचनाओं से न तो हिन्दू बचते हैं और न मुसलमान। जहाँ कहीं उन्हें दोष, आडम्बर और पाखण्ड दिखाई देता है वहाँ उसकी वे तीव्र भर्त्सना करते हैं। कबीर के वंश और जन्म के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। डॉ० भोलानाथ राय का कथन है कि, "अन्य संत-महात्माओं की भाँति ही कबीर के सम्बन्ध में भी तरह-तरह की जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।...कबीर के सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियाँ लगभग चालीस हैं जिनसे कबीर के जीवन, पालन-पोषण, उनके विकास, व्यवसाय, गुरु, भगवान् तथा भक्तों में श्रद्धा, सत्य के प्रति अटूट निष्ठा, पर्यटन, वाद-विवाद, जीवन तथा मरण काल, मृत्यु, पुत्र-पुत्री, स्त्री, तथा माता-पिता आदि के सम्बन्ध मे प्रकाश पड़ता है।

कहा जाता है कि कबीर का नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने पाला पोसा था। वे अपनी जाति के

विषय में स्वयं कहते हैं—"जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरूँ उदासी।" इसी प्रकार कबीर के जन्मस्थान के विषय में भी कई मत हैं। कुछ लोगों के अनुसार उनका जन्म मगहर में हुआ था किन्तु कुछ विद्वान् उन्हें काशी का निवासी बताते हैं। यद्यपि कबीर बाल्यकाल से ही मुसलमान माता-पिता के आश्रय में रहे किन्तु काशी जैसे पवित्र हिन्दू तीर्थ में रहने के कारण उन्हें हिन्दू धर्म, दर्शन और जीवन का पूरा परिचय मिला था। वे हिन्दू-धर्म के नाम पर पनपने वाली हानिकर रूढ़ियों, बाह्याचारों और आडम्बरों से भी परिचित हुए थे जिनकी उन्होंने कड़ी और निर्भीक आलोचना की थी। कबीर विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। सत्संग, तीर्थाटन आदि से उन्होंने बहुत कुछ सीख लिया था। सांसारिक पढ़ाई से वे कोसों दूर थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—"मसि कागद छूयो नहीं, गही कलम नहिं हाथ।" सद्गुरु के वचनों, अनेकानेक यात्राओं और अपनी विलक्षण मेधा के बल पर उन्होंने तत्कालीन सभी मतमतान्तरों की जानकारी प्राप्त कर ली थी।

कबीर के विवाह के विषय में भी अनेक मतभेद हैं। जनश्रुति के अनुसार उनका विवाह लोई नामक स्त्री से हुआ था। कुछ लोग लोई को उनकी शिष्या मानते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि उनका विवाह नहीं हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार कबीर की धनिया और लोई दो पत्नियाँ थीं। कबीर का कमाल नामक एक पुत्र भी था। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है :—

"बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाड़ि के घर ले आया माल ॥"

उनकी कमाली नामक एक पुत्री भी थी। किन्तु-समग्रतः कबीर के जीवन के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं मिलता।

कबीर के गुरु के विषय में भी चार प्रकार के विचार प्रचलित हैं। कुछ लोगों का मत है कि कबीर ने किसी मनुष्य को अपना गुरु नहीं बनाया था। कुछ अन्य लोगों ने शेख तकी को कबीर का गुरु माना है। एक अन्य मत पीताम्बर पीर को उनका गुरु मानता है। चौथे मत के अनुसार उनके गुरु रामानन्द थे। उन्होंने एकाधिक स्थानों में रामानन्द की गुरु के रूप में वंदना की है — "कहे कबीर दुबिधा मिटी, जब गुरु मिलिया रामानन्द।" "कबीर रामानन्द का सतगुरु मिला सहाय।" कबीर के जीवन काल की घटनाओं का प्रामाणिक वर्णन नहीं मिलता। कहा जाता है कि उन्हें तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी ने बहुत परेशान किया था। कबीर और गुरुनानक की भेंट की घटना भी प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों के अनुसार कबीरदास १२० वर्ष तक जीवित रहे और उन्होंने मगहर में अपना देह-त्याग किया।

कबीर एक क्रांतिकारी महापुरुष थे। वे अन्धविश्वासों और आडम्बरों के कट्टर शत्रु थे। वे किसी भी प्रकार के बाह्याचार को मानने के लिये तैयार नहीं थे। वे मौलिक

सत्यान्वेषी थे तथा उन्होंने यह उद्घोष किया था कि — "पंडित मुल्ला जो लिख दिया, छाँड़ि चले हम कछु न लिया।" जहाँ कहीं भी उन्हें दोष या उथलापन दिखाई देता, वे बिना किसी भय के दो टूक शब्दों में उसकी आलोचना कर दिया करते थे। वे स्वभाव से ही निर्भीक थे। उन्होंने स्वयं कहा था —

"कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ॥"

कबीर के दर्शन में अनेक धर्मों और सम्प्रदायों का प्रभाव निहित है। निरंजन सम्प्रदाय, इस्लाम और जैन धर्म का प्रभाव उनपर विशेष रूप से पड़ा था। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में औपनिषदिक विचारों की गूँज भी सुनाई देती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।" कबीर की भक्ति-भावना सूफी-प्रेम भावना से प्रभावित है। विरह और प्रेम की अनुभूतियाँ सूफी मत के परिचय को प्रकट करती हैं। कबीर बड़े उदार व्यक्ति थे। यद्यपि वे निराकारोपासना के प्रेमी थे किन्तु उन्होंने सभी मतों का सार संग्रह किया था। उनका विरोध केवल तथाकथित धार्मिकता के आवरण में पनपने वाले दोषों, कुसंस्कारों और हानिकारक प्रवृत्तियों से था। किन्तु वे केवल आलोचक मात्र नहीं थे। उनमें उच्च कोटि की विनम्रता और समर्पणशीलता थी।

अपने इष्टदेव के प्रति समर्पित होते हुए उन्होंने अनेक भावोच्छ्‌वासपूर्ण उद्‌गारों की सृष्टि की है, जैसे—

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी जित खेंचै तित जाउँ॥"

संत कबीर ने अपना सारा जीवन समाज-सुधार के साथ भगवद्‌भक्ति में व्यतीत किया था। निरक्षर होते हुए भी वे एक प्रभावकारी युगनायक हुए। उन्होंने कट्टर मुसलमानी शासन काल में समन्वय का कार्य किया था। हजारीप्रसादजी द्विवेदी उन्हें तुलसीदास के समान युग-नायक मानते हैं। उनकी तुलना करते हुए वे कहते हैं कि "तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे किन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सबको झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।... कबीर धर्मगुरु थे।... कबीर का यह भक्तरूप ही उनका वास्तविक रूप है।"

———

जब आवै संतोष धन

श्री संतोष कुमार झा

असीम के राज्य में अनंत मार्गों से पहुँचा जा सकता है, किंतु गंतव्य तक पहुँचने के लिये किसी एक मार्ग का अवलंबन एवं अनुसरण अनिवार्य होता है। अनंत के राज्य में ले जाने वाले ये मार्ग ही साधना-प्रणालियों के नाम से जाने जाते हैं।

पुण्यभूमि कुरुक्षेत्र में एक तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने दान और धैर्य के पथ को अनंत के राज्य में जाने के लिये चुनाथा। अतिथि सेवा उनके दैनंदिन धर्म का एक प्रमुख अंग थी। आगन्तुक अतिथि की सेवा में निष्ठापूर्वक लगे रहना उनका व्रत था।

ऋषि मुद्गल के इस व्रत की ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। अनेक साधु-संत, त्यागी-तपस्वी उनकी सेवा से परितृप्त हो चुके थे। ऋषि भी अविचल भाव से सेवा-परायण हो अतिथि सेवा में तत्पर रहते थे।

प्रेय की सीमा को लाँघकर ही श्रेय की सीमा में प्रवेश पाया जा सकता है। प्रेय बाह्य जगत् की वस्तुओं पर आधारित, होता है। बाह्य जगत् की वस्तुएँ अनित्य और परिवर्तनशील हैं। अतः प्रेय का आधार भी निरंतर बदलता रहता है। परिणामस्वरूप प्रेयार्थी अस्थिर और अशांत रहता है। श्रेय का आधार आत्मा है। आत्मा नित्य और

अपरिवर्तनशील है। फलस्वरूप श्रेयार्थी शांत एवं स्थिर रहता है।

इस ध्रुव सत्य को तपस्वी मुद्गल ने हृदयंगम कर लिया था। इसी लिये उन्होंने प्रेय वस्तुओं का त्याग कर उच्छ वृत्ति से जीवन यापन का मार्ग अपनाया था। खेत-खलिहानों आदि से वे अन्न के गिरे हुए दाने चुन लाते। जो कुछ थोड़ा अन्न मिलजाता उससे भोजन बना अपने इष्ट देवता को समर्पित कर, अतिथि सेवा के पश्चात् अपना भरणपोषण किया करते।

तपस्वी मुद्गल के इस व्रत की ख्याति महर्षि दुर्वासा ने भी सुनी। उन्होंने मुद्गल की परीक्षा लेने का निश्चय किया और वे मुद्गल के आश्रम की ओर चल पड़े। उन दिनों दुर्वासा ने अपना रूप अत्यंत ही विचित्र बना लिया था। वे दिगंबर रहते थे। उन्होंने अपना सिर मुँड़वा लिया था। उनकी चेष्टाएँ उन्मत्तवत् होती थीं तथा वे अत्यंत कटु एवं कर्कश शब्दों का व्यवहार करते थे।

आश्रम के द्वार पर पहुँचते ही उन्होंने कर्कश संबोधन द्वारा ब्राह्मण को पुकारा। मुद्गल तुरंत आश्रम के द्वार पर आये। उन्होंने अत्यंत विनयपूर्वक ऋषि दुर्वासा को प्रणाम किया और उन्हें आदर पूर्वक आश्रम में लिवा ले गये।

दुर्वासा ने कहा, "विप्रवर। तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि यहाँ मैं भोजन की इच्छा से आया हूँ। शीघ्र ही मेरे भोजन की व्यवस्था करो।" मुद्गल के पास जो कुछ भी अन्न था उसका भोजन बनाकर उन्होंने ऋषि

दुर्वासा की सेवा में अर्पित किया। परोसा हुआ भोजन उन्होंने शीघ्र ही खा लिया, तथा और भोजन की माँग की। मुद्गल ने बचा हुआ भोजन फिर परोस दिया। दुर्वासा ने जितना खाते बन पड़ा उतना तो खा लिया और शेष भोजन जूठा कर अपने शरीर में लपेट लिया। तत्पश्चात् वे कर्कश वचन कहते हुए वहाँ से चल दिये।

तपस्वी मुद्गल उञ्छवृत्ति से जीवन निर्वाह करते थे, अतः उन्हें प्रतिदिन भोजन नहीं मिल पाता था। कभी सप्ताह में दो दिन तो कभी एक ही दिन भोजन की व्यवस्था हो पाती थी। इस बार भी उन्हें भोजन किये हुए एक सप्ताह बीत चुका था। एकत्रित किया हुआ सारा अन्न दुर्वासा की सेवा में समाप्त हो गया। किंतु क्षुधा की चिंता न कर तपस्वी मुद्गल अपने नियमानुसार ईश्वराराधन में निमग्न हो गए।

कुछ दिन बीते। थोड़ा सा अन्न जुटा। मुद्गल ने पुनः भोजन बनाया और उसे अपने इष्टदेव को अर्पित किया। ठीक उसी समय आश्रम के द्वार पर वही कटुकर्कश ध्वनि हुई। मुद्गल द्वार पर आये। देखा, उन्मत्त दुर्वासा द्वार पर उपस्थित हैं।

दुर्वासा ने कर्णकटु शब्दों में कहा, "विप्र! मैं भोजन की इच्छा से तुम्हारे आश्रम में आया हूँ। शीघ्र ही मेरे भोजन का प्रबंध करो।"

मुद्गल ने उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम कर कहा,

भगवन्, भोजन तैयार है। आप कृपया मेरी कुटिया के भीतर पधारें।"

दुर्वासा ने सरोष कुटी में प्रवेश किया और भूमिपर बैठ गए। मुद्गल ने आदर पूर्वक उन्हें भोजन परोसा। फिर वही पुनरावृत्ति। जितना संभव हुआ उतना भोजन तो दुर्वासा जी ने खा लिया, शेष को अपने शरीर पर लेप कर नष्ट कर दिया और कर्कश शब्द बोलते हुए वहाँ से चल दिये।

पुनः अन्नाभाव! क्षुधा की ज्वाला! किंतु तपस्वी ब्राह्मण की तपस्या और व्रत में व्यवधान न हुआ। उनके मन में भूख या अपमान के कारण कोई विकार नहीं आया, किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं उत्पन्न हुई। निर्विकार रूप से उनकी साधना का क्रम चलता रहा।

इस प्रकार लगातार छः भोजनपर्वों पर दुर्वासा मुद्गल के आश्रम में आये, उनका भोजन खा लिया, बचा हुआ अन्न नष्ट कर दिया और उनका अपमान करते हुए चले गए। किंतु परम संतोषी मुद्गल के मन में कभी कोई विकार नहीं आया। वे सदैव प्रसन्न, शांत और नम्र रहे।

ऋषि दुर्वासा द्वारा ली गई परीक्षा में मुद्गल पूर्णतः उत्तीर्ण हो गये। उनका अनुपम धैर्य, निर्विकार बुद्धि और संतोषी वृत्ति देखकर दुर्वासा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुद्गल को हृदय से लगा लिया और अनेक आशीर्वाद देते हुए उनसे कहा, "तपस्विन्! निस्संदेह तुम तपस्वियों में श्रेष्ठ और वन्द्य हो। तुम इंद्रियजित् हो चुके हो। भूख

की ज्वाला और रसना का स्वाद बड़े बड़े त्यागी-तपस्वियों को भी विचलित कर देता है। किंतु तुम्हारे मन में न तो क्षुधा की ज्वाला के कारण कोई विकार आया और न रसना का स्वाद ही तुम्हें अपने व्रत से विचलित कर सका। तुम सचमुच धन्य हो।"

महर्षि दुर्वासा इस प्रकार मुद्गल की प्रशंसा कर ही रहे थे कि उसी समय आकाश से एक सुंदर आकर्षक विमान वहाँ उतरा। उस विमान की शोभा अद्भुत थी। उसकी आभा से निकटवर्ती क्षेत्र प्रकाशित हो उठा। विमान से एक देवदूत उतरा। उसने ऋषिप्रवरों को प्रणाम किया। तत्पश्चात् उसने मुद्गल से निवेदन किया,

"महर्षि ! आपके अद्वितीय त्याग, धैर्य एवं संतोष रूपी शुभ कर्मों के फलस्वरूप आपको यह विमान प्राप्त हुआ है। आप इसमें बैठकर स्वर्ग जा सकते हैं तथा वहाँ के नानाविध सुखों का भोग कर सकते हैं।"

देवदूत की बात सुन कर मुद्गल ने उससे कहा, "देवदूत! मैं स्वर्ग के निवासियों के संबंध में जानना चाहता हूँ। वहाँ के निवासियों में कौन कौन से गुण हैं ? वे कैसी तपस्या करते हैं ? स्वर्ग में क्या क्या सुख हैं, तथा साथ ही वहाँ जो दोष हैं उनसे भी मुझे परिचित कराइए।"

देवदूत ने कहा, "महर्षे, जिसे स्वर्गलोक कहते हैं वह यहाँ से बहुत दूर है। वहाँ जाने का मार्ग अत्यंत रमणीय है। वहाँ लोग सदा विमानों में विचरण किया करते हैं। अपने मन को वशमें रख कर तपस्या करने वाले व्यक्ति ही

वहाँ प्रवेश पा सकते हैं। वहाँ देवता, विश्वदेव, गंधर्व आदि के अलग अलग लोक हैं। वे सभी अत्यंत प्रकाशवान् हैं। इन लोकों में इच्छानुसार सभी भोगों की प्राप्ति हो जाती है।

"स्वर्ग में सुमेरु नाम का एक अत्यंत सुंदर पर्वत है। उसमें देवताओं तथा पुण्यात्माओं के अलग अलग अनेक सुन्दर उद्यान हैं। वहाँ किसी को भूख-प्यास नहीं लगती। मन में कभी किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। वहाँ सर्दी-गर्मी का कष्ट भी नहीं होता। नहीं वहाँ कोई भय है। वहाँ कोई भी वस्तु अशुभ अथवा घृण्य नहीं है। सभी ओर मनोरम दृश्य हैं। सुगंधित वस्तुएँ हैं। कानों को प्रिय लगने वाले मधुर शब्द सुनने को मिलते हैं। विप्रवर, स्वर्ग में न शोक होता है, न बुढ़ापा। वहाँ कोई थकता नहीं।

"तपस्वी ! अपने सत्कर्मों के कारण ही मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। मनुष्य वहाँ अपने किये हुए पुण्य कर्मों के कारण ही रह पाते हैं। स्वर्ग निवासियों के शरीर में तैजस् तत्त्व की प्रधानता होती है। वे शरीर पुण्य कर्मों से प्राप्त होते हैं। साधारण मनुष्यों की भाँति उनका जन्म नहीं होता। उन शरीरों में कभी पसीना नहीं आता। उसमें किसी भी प्रकार की दुर्गंध नहीं होती। महामते! जिन्होंने अपने सत्कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति की है वे लोग वहाँ बड़े आनन्द से रहते हैं। संक्षेप में यही स्वर्ग के सुख हैं। मनुष्य अपने मन में जिस-जिस सुख और भोग की कामना कर सकता है, वे सभी उसे स्वर्ग में प्राप्त होते हैं।"

मुद्‌गल ने पुनः प्रश्न किया, "देवदूत ! यह तो स्वर्ग के वैभव और गुणों की चर्चा हुई। क्या उसमें कोई दोष भी हैं ?"

देवदूत ने कहा, "विप्रवर ! स्वर्ग का एक बड़ा दोष यह है कि अपने पुण्य कर्मों का फल समाप्त होते ही वहाँ से मनुष्य का पतन हो जाता है। स्वर्गीय सुख-भोगों से सहसा पतन कितना दुखदायी होता है इसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।

"स्वर्ग में व्यक्ति मनुष्ययोनि में किये हुए कर्मों काही फल प्राप्त करता है। इच्छा करने पर भी वहाँ अपने कर्म फल के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जा सकता। वहाँ कोई नया कर्म भी नहीं किया जा सकता। अपने पुण्य रूपी धन को गँवाकर ही स्वर्ग का सुख प्राप्त किया जा सकता है।"

"स्वर्ग में भी जो लोग नीचे के स्थानों पर हैं, उन्हें अपने से श्रेष्ठ स्थानों के लोगों के प्राप्य सुखों को देखकर बहुत असंतोष और संताप होता है, क्योंकि उन भोगों को वे प्राप्त नहीं कर सकते। स्वर्ग में उच्च या निम्न स्थान मानवयोनि में किये हुए कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होता है।"

मुद्‌गल ने जिज्ञासा की, "देवदूत ! तुमने मुझे स्वर्ग के दोषों से भी परिचित करा दिया। किंतु क्या ऐसा भी कोई लोक है जो इन दोषों से सर्वथा रहित हो ?"

देवदूत ने कहा, "महामते ! अवश्य ही इन सब सुख-भोग देने वाले लोकों के ऊपर एक लोक है, जो सभी प्रकार

के गुण-दोषों से रहित है तथा जिसे प्राप्त करलेने पर फिर मनुष्य का पतन नहीं होता।"

मुद्गल ने कहा, "देवदूत! मुझे उस लोक का वर्णन कुछ और विस्तार से बताओ।"

देवदूत ने कहा, "भगवन्! वह लोक ब्रह्मा जी के लोक से भी ऊपर है। उसे विष्णु का परम धाम भी कहते हैं। वह शुद्ध सनातन ज्योतिर्मय लोक है। उसे मनीषीगण परब्रह्म भी कहते हैं।

"विप्रप्रवर! जिसका मन किसी भी प्रकार विषयों में आसक्त है, वह इस लोक को प्राप्त नहीं कर सकता। जो लोग अहंकार से रहित हैं, जिनका मन सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका है, जो जितेन्द्रिय हैं तथा जो निरंतर ध्यान-योग में तत्पर हैं वे ही इस लोक को प्राप्त कर सकते हैं।"

अंत में देवदूत ने कहा, "धर्मात्मन्! आपने जो कुछ पूछा उसका मैंने यथा साध्य उत्तर दिया। अब आप अपने पुण्य कर्मों का फल भोगने के लिये स्वर्ग लोग को चलिये। आपके सत्कर्मों से आपको यह विमान प्राप्त हुआ है। आप इसका उपयोग कीजिए।"

देवदूत की बातों पर मुद्गल ने विवेकपूर्वक विचार किया। उन्होंने देवदूत से कहा, "देवदूत! तुमने कृपा-पूर्वक मुझे स्वर्ग के गुण-दोषों से परिचित कराया। मैंने यह समझ लिया है कि स्वर्ग से पतन होने के पश्चात् मनुष्य को भयानक असंतोष और संताप होता है। वह अतृप्ति

की ज्वाला में जलता रहता है। उसे कभी शांति नहीं मिलती। तुम अब अपना विमान ले जाओ। मैं स्वर्ग नहीं जाना चाहता। मैं तो इसी कर्मभूमि में रहकर उन व्रतों का पालन करना चाहता हूँ जिससे अंत में मुझे उस ब्रह्म-पद की प्राप्ति हो सके जिसे पाकर मनुष्य फिर संसार में नहीं लौटता। उसे फिर किसी भी प्रकार की अतृप्ति का बोध नहीं होता। वह पूर्ण काम और परम संतुष्ट हो जाता है।"

मानव-मन की सर्वथा शांत एवं संपूर्ण इच्छारहित स्थिति ही वह विष्णुधाम है जहाँ पहुँच कर मनुष्य फिर क्षुद्र विषय-सुखों के पीछे नहीं दौड़ता। इस धाम में पहुँचने का मार्ग संतोष की वृत्ति से प्रारंभ होता है। हमें जितना जो कुछ प्राप्त है उससे संतुष्ट रहना और प्राप्त वस्तु के विनष्ट होने पर भी निर्विकार रह कर सबल सक्रिय एवं प्रयत्न शील रहना यही इस परमपद की प्राप्ति के प्राथमिक सोपाण हैं।

इच्छाशक्ति ही सबसे अधिक बलवती है। इसके सामने हर एक वस्तु झुक सकती है, क्योंकि वह ईश्वर और स्वयं ईश्वर से ही आती है; पवित्र और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। क्या तुम इसमें विश्वास करते हो?

— स्वामी विवेकानन्द

यमुनोत्री से गोमुख

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

धीरे धीरे संध्या घनी होने लगी। यमुना का कलनाद सारे वातावरण में गुंजित हो रहा था। ठंड बढ़ चली थी। अतः उठकर चट्टी में लौट आया। शाम को यात्रियों का कोलाहल शान्त हो गया था। सब अपने अपने निवास में पहुँच गए थे। सेन और दत्त बाबू भी बिस्तर बिछाकर लेटे हुए थे। भूख जोरों से लग आई थी। हम लोग बाहर निकले। पहले ही इन लोगों ने एक चट्टीवाले को भोजन तैयार करने के लिए कह दिया था। इधर की चट्टियों में प्रायः भोजन तैयार नहीं मिलता है। किसी किसी बड़ी चट्टी में पूड़ी-साग मिल सकता है। चट्टीवाले भोजन की सभी चीजों का प्रबन्ध रखते हैं। आप उनसे सामान खरीदिये। बर्तन किराये पर ले लीजिए और भोजन बनाइये। यहाँ तक कि चूल्हे और लकड़ी से लेकर वे शुद्ध देशी घी तक का प्रबन्ध रखते हैं और आप चाहें तो उनकी द्वारविहीन चट्टियों में बिना किराया दिये रात्रि-बास कर सकते हैं। भोजन बनाना अपने बस की बात नहीं थी। अतः चट्टी-मालिक की पाककला का आस्वादन किया और कमरे में लौट आए। चारों ओर गंभीर निस्तब्धता थी। सुदूर पहाड़ों में टिमटिमाती हुई रोशनी लोगों के

होने का आभास करा रही थी। ९ बजे दरवाजे और खिड़कियों को बन्द करके हमलोग धराशायी हो गये। पर नींद कहाँ से आये। जमीन मिट्टी की थी और नीचे से ठंडक पहुँचा रही थी। इधर दुखद समाचार यह मिला था कि रास्ते में किराये से कंबल आदि मिलना मुश्किल होगा। अतः रात्रि अपने एकमात्र कंबल में काटनी थी। सारे शरीर को शीत-शत्रु से बचाने के लिए स्वेटर, मोजे, मफलर आदि आधुनिक कवचों से युद्ध कर लिया। पर दुश्मन भारी पड़ा और रात उलट-पुलट कर बितानी पड़ी।

हम लोग सबेरे पाँच बजे उठ गए। बहुत से यात्री रवाना हो चुके थे। प्रातःकर्म से निवृत्त हो चायामृत का पान करके हम लोग निकल पड़े। वास्तव में हम शहरी लोगों के लिये चाय सुधातुल्य ही थी। पर्वतीय चढ़ाई के पश्चात् थके हुए शरीर में चाय की एक घूँट जादुई असर दिखलाती है। फिर इधर चाय जल की तरह पीनी पड़ती है और जल चाय की तरह। कारण यह कि पानी इतना ठंडा रहता है कि घूँट गले से नीचे नहीं उतरता। ऐसा लगता है कि दाँत गल जायेंगे।

गंगानी से यमुनोत्री २५ मील दूर है। यहीं से एक मार्ग उत्तरकाशी को गया है जो यहाँ से १८ मील दूर है। यहाँ से गंगा दस-बारह मील की दूरी पर बहती हैं। दोनों नदियों को बिशाल राड़ी पर्वत ने अलग कर रखा है अन्यथा दोनों का संगम यहीं हो जाता। ऐसी योजना चल रही है कि गंगानी और नाकुरी को जो कि उत्तरकाशी के रास्ते

में है, मार्ग द्वारा जोड़ दिया जाये। इससे गंगोत्री जाने के लिये मार्ग की दूरी काफी कम हो जायेगी। वैसे अभी भी अनेक यात्री यमुनोत्री से लौटकर इसीमार्ग से उत्तर काशी जाते हैं। गंगानी में एक कुंड है जिसमें गंगाजी का जल अन्दर ही अन्दर आता रहता है। इसे गंगानयन कुंड कहते हैं। कहा जाता है पुरातन काल में एक ऋषि यहाँ निवास करते थे। वे प्रतिदिन स्नान के लिए राड़ी पर्वत को लाँघकर गंगा पर जाया करते थे। उनकी इन दो सरिताओं के प्रति अनुपम श्रद्धा थी। दोनों का दर्शनलाभ हो इसीलिए उन्होंने अपना ऐसा नियम बना लिया था। जराजर्जरित होने पर प्रतिदिन १२-१४ मील पहाड़ लाँघना उनके लिए असंभव होगया। गंगा के दर्शन न होने से उनका हृदय आकुल हो उठा। उन्होंने विकल होकर माता से प्रार्थना की। भगवती जाह्नवी भूमि को फोड़ कर यहाँ पर निकल आई और तबसे यह गंगानयन कुंड कहलाता है।

गंगानी से यमुनाचट्टी ६½ मील दूर है। हम लोगों ने वहीं विश्राम करने का विचार किया था। मौसम सुहावना था। मार्ग के दोनों ओर चीड़ के वृक्षों से आच्छादित वनस्थली थी। साँप की तरह लहराता हुआ रास्ता पहाड़ों की गोद से गुजरा था। यमुना कहीं पास तो कहीं दूर से अपना कलनाद सुनाती जा रही थी। रास्ते में कई निर्झर पहाड़ों में नर्तन करते हुए बह रहे थे। इसी बीच एक अद्भुत बात देखी। ऊपर पहाड़ पर से एक जल प्रपात गिर रहा था। उसकी धारा के नीचे लकड़ी की नहर बना दी

गई थी जो दो-तीन फर्लाङ्ग नीचे यमुना से मिलाई गई थी। वह करीब ३ फुट चौड़ी रही होगी। उसमें ऊपर पहाड़ पर से वृक्ष के बड़े बड़े टुकड़े काटकर डाल दिये गये थे। पानी के प्रवाह में वे टुकड़े बड़ी तेजी के साथ बहते हुए नीचे जा रहे थे। उसे देखकर बड़ा आनन्द आया। करीब ३ मील तक मार्ग बड़ा अच्छा था। उसके बाद मार्ग क्रमशः खराब होता गया। गंगानी के आगे मोटर सड़क बनाने का कार्य चल रहा था। जगह जगह पर पहाड़ों को बारुद द्वारा फोड़ा जा रहा था। अतः वह रास्ता छोड़कर पगडंडी के रास्ते से चलना पड़ा जो कई स्थानों पर ऊपर की चट्टान गिर जाने से खतरनाक हो गया था।

मैं करीब ८ बजे यमुनाचट्टी पहुँच गया। यहाँ पर कई धर्मशालाएँ और चट्टियाँ थीं। कुछ देर में सेनबाबू और दत्तबाबू भी आ पहुँचे। अभी दोपहर होने में काफी समय था। हम लोगों ने निश्चय किया कि सेनाचट्टी में पहुँच कर ही भोजन और विश्राम किया जाये। सेनाचट्टी वहाँ से पाँच मील दूर थी और जिस तेजी से हम लोग चले, उससे आशा थी कि ११ बजे तक वहाँ पहुँच जायेंगे। दत्तबाबू जोश में थे। यह उनकी पहली यात्रा थी। पर सेनबाबू अपने भारी भरकम शरीर के कारण पीछे हटने लगे। हम दोनों ने जोर लगाकर उन्हें चलने के लिए राजी कर लिया और आगे बढ़े। यहीं से आजके दुर्भाग्यपूर्ण समय का प्रारम्भ होता है।

अब तक मार्ग के मोड़ों पर शासन ने कृपा करके

यमुनोत्री मार्गदर्शक पट्टियाँ लगवा दी थीं, जिससे यात्री भटकने न पाये। पर यमुनाचट्टी के बाद उसने अपने कार्य की इतिश्री समझ ली। हम लोग कुछ ही दूर में अलग अलग हो गये। यह पर्वतीय मार्ग ही ऐसा है कि यात्री एक साथ नहीं चल पाते। सबको लक्ष्य में पहुँचने की शीघ्रता रहती है। पर शारीरिक कारणों से, मार्ग की दुरूहता के कारण लोग यहाँ तक कि निकट संबंधी भी, अलग हो जाते हैं। एकमात्र ईश्वर ही साथ रहता है। ऊपर से लौटकर आनेवालों के चेहरे से उल्लास और तृप्ति झलकती है और जाने वालों के हृदय में पहुँचने की विकलता और लगन। 'जय यमुने' 'जय जमुनामैया' के स्वर अभिवादन के रूप में निकलते हैं। एक स्वर में संतोष और पूर्णता ध्वनित होती है, दूसरे में आशा और विश्वास। बड़े-बूढ़े लोग और वृद्धाएँ अपना जराजर्जरित शरीर लिए लाठी के सहारे अपने डगमगाते कदम रखती आगे बढ़ती जाती हैं। शरीर जवाब दे देता है पर मन की ताकत उन्हें आगे बढ़ाती जाती है। केवल एकमात्र अभिलाषा रहती है, उस पवित्र स्थल के दर्शन की। लौटकर आनेवालों की हर्षोल्लास भरी वाणी उनके थके देह और मन को प्रफुल्लित बना देती है और डगमगाते कदम तेजी से बढ़ने लगते हैं।

यमुनाचट्टी से कुछ दूर पर पगडंडी दो अलग दिशाओं में बँट गई थी। मैं उधेड़बुन में पड़ गया कि किस मार्ग से चला जाये। कुछ देर में एक पहाड़ी उधर से निकला। उससे मार्ग पूछकर आगे बढ़ा। यह रास्ता बहुत ही खराब

था। जगह जगह पर पर्वत की चट्टानें टूटकर गिर पड़ी थीं। पहले दिन वर्षा होने के कारण मार्ग में फिसलन हो गई थी। उस मार्ग से करीब तीन मील चलने के पश्चात् न कोई गाँव दिखाई पड़ा और न कोई चट्टी ही। वह मार्ग कुछ दूर में एक निर्मित होती हुई सड़क में जाकर खत्म हो गया। यहाँ से यमुना ४ फर्लांग दूर पर बह रही थी। मार्ग के एक ओर ऊँची हरीतिमाविहीन पर्वतश्रेणियाँ थीं, और दाईं ओर घाटी में यमुना। थोड़ी दूर जाने पर वह मार्ग भी समाप्त हो गया था। उसके आगे एक गहरी खाई थी। उसकी चौड़ाई ४ फुट और गहराई २०० - ३०० फुट रही होगी। खाई के दूसरी ओर पहली सड़क से पाँच - छः फुट की ऊँचाई पर दूसरी सड़क बनाई जा रही थी। खाई देखकर जान सकते में आ गई। ऊपर की सड़क में मजदूर काम कर रहे थे। उनसे सेनाचट्टी का मार्ग पूछा। उन्होंने बताया कि सेनाचट्टी को पगडंडो दो मील पीछे नदी के किनारे किनारे गयी है तथा इस सड़क से जाने पर दो मील का घुमान होगा। मैंने ऊपर की सड़क से जाना मंजूर किया। पर यह खाई पारकरना मेरे बस की बात नहीं थी। उसके नीचे दृष्टि डालने से ही होश फाख्ते हो जाते थे। मजदूरों ने एक सीढ़ी लटका दी जिसका निचला छोर खाई के किनारे और दूसरा उसपार की सड़क से २ फुट नीचे। उस पर चढ़ते ही हौसला पस्त होने लगा। पहले अपना सामान मजदूरों को दिया। इतने में सीढ़ी डगमगाने लगी। ऐसा लगा कि अब बस नीचे पहुँचता ही

हूँ। पर मजदूरों ने मेरा हाथ पकड़कर ऊपर खींच लिया। उन्हें किन शब्दों में धन्यवाद देता। कृतज्ञता ज्ञापित करके आगे बढ़ा। उन लोगों ने बताया कि पुरानी सड़क बीच बीच में खराब हो जाने के कारण बन्द हो गई है और इस नई सड़क से सेनाचट्टी और यमुनाचट्टी के बीच की दूरी ८ मील होगी। अतः अभी ६ मील और चलना था। कष्ट का अंत न था। कुछ दूर जाने पर यह सड़क भी खत्म हो गई। ५० फुट ऊपर पहाड़ से मार्ग गया था। किसी तरह चढ़कर ऊपर की सड़क पर आया तो दम फूल गया। रास्ता बीरान था। चारों ओर विशालकाय वनस्पति विहीन पर्वतश्रेणियाँ थीं। दूरतक कोई व्यक्ति नजर नहीं आता था। पहाड़ों की ओट में बंदरपूँछ की हिममंडित चोटी दीख पड़ रही थी। यह मार्ग क्रमशः उतार-चढ़ाव का था। हजार फीट की चढ़ाई के बाद उतना ही नीचे उतराई थी। करीब तीन मील चलने के बाद कुछ लोग मिले। वे सबेरे यमुनाचट्टी से ही निकले थे तथा नदी के किनारे वाली पगडंडी से आये थे। उन्होंने बताया कि वह रास्ता भी वैसा ही खतरनाक है।

बारह बज चुके थे। सेनाचट्टी अभी दूर ही थी। कुछ दूरी पर एक गाँव मिला। पहाड़ों से उतरकर एक निर्झर बह रहा था। वहाँ पर हाथ-मुँह धोकर सुस्ताने लगा ताकि सेन और दत्त बाबू आ जायें। काफी देर तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् पुनः रवाना हुआ। पैरों में थकावट भर आई थी। विशेषकर चढ़ाई की अपेक्षा उतराई के

स्थानों में जहाँ पर कि चाल पर ब्रेक लगाना पड़ता है, जोड़ों पर दर्द होने लगता है। करीब दो बजे सेनाचट्टी पहुँचा। यमुनाचट्टी से सेनाचट्टी तक जी उकता देने वाला मार्ग आज तक नहीं देखा। जिस दूरी को पाँच मील दर्शाया है वह नौ मील से कम नहीं होगा। ऐसी गलत जानकारी से लोगों का जीवन खतरे में पड़ सकता है। दूसरी बात, इन दोनों चट्टियों के बीच में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ पर लोग ठहर सकें तथा चाय आदि की व्यवस्था हो। करीब तीन बजे सेन और दत्त बाबू आ पहुँचे। चेहरा कुम्हलाया हुआ, थकावट से चूर चूर। दृष्टि आकाश की ओर ताक रही थी और पैर यंत्रवत् धीरे धीरे लाठी के सहारे बढ़े आ रहे थे। .मुझे देखते ही सेनबाबू फूट पड़े, "शर्बोनास! खतरानास! (सर्वनाश और खतरनाक का उच्चारण वे इसी तरह करते थे) एई शाला शोरकार हमकू जान से मार डालेगा। चोल चोल करके हमरा जान नेकल गई गोड़ टूट गई फिन भी इशका पाँच मील खतम होने शकता नई। हम कोलकता जाके इशका ऊपर केश चोला-येगा। बोलेगा जे ए शोरकार हमकू धोका देके एदिके बुलाता, एगारह मील का रास्ता को पाँच मील बताता और हमरा जान नेकालना चाहता...।" सेनदादा ने शासन का धुआँधार गुणगान शुरू कर दिया। चाहने की कोशिश करके भी हँसी न रोक सका। दत्तबाबू गंभीरता की मूर्ति बने खड़े थे। सेन बाबू के कपड़े धूल धूसरित हो गये थे। पूछने पर पता लगा, रास्ते की फिसलन में उनके पैरों ने

असहयोग कर दिया, एक आगे हो गया और दूसरा पीछे और भारी भरकम शरीर द्रुतगति से भूमि पर लंबायमान हो गया। उस घटना का ख्याल आते ही दत्तबाबू की गम्भीरता काफूर हो गई और वे खिलखिला उठे। सेनदादा का दयनीय चेहरा और उनकी हालत देखकर मेरी हँसी संयम के सब बाँधों को तोड़कर निकल पड़ी। अट्टहास ने हम लोगों की सारी मायूसी और थकावट दूर कर दी। उनका कुली ३½ बजे करीब पहुँचा। चट्टी में भोजन तैयार हो गया था। धर्मशाला में भाग्य से अच्छा कमरा भी प्राप्त हो गया। खा-पीकर जो सोये कि रात कैसे बीती पता नहीं लगा। सेनाचट्टी की इस सैनिक परेड ने वह गुल खिलाया कि हमारे सहयात्रीद्वय ने उसी दिन अपनी चारधामों की यात्रा में से दो धामों की यात्रा की कटौती कर दी। मात्र यमुनोत्री और गंगोत्री की यात्रा करना ही निश्चित रखा।

१४ मई को सबेरे ६½ बजे हम लोग सेनाचट्टी से रवाना हुए। अब तय किया कि तीनों साथ साथ ही चलेंगे। सेनाचट्टी से चारों ओर प्रकृति अपनी सुषमा बिखेर रही थी। कल की दुःसाध्य यात्रा ने निसर्ग - दर्शन का ख्याल ही बिसार दिया था। किसी ने ठीक ही कहा है,

जब जेब में पैसा रहता है और पेट में रोटी रहती है,
तब जर्रा जर्रा हीरा है और सारे शबनम मोती हैं।

प्रकृति - दर्शन करते हुए हम लोग आगे बढ़े। मार्ग क्रमशः चढ़ाई का था। कहीं कहीं पर अत्यंत सकरा हो

गया था। सामने तुषारमंडित शैलशिखर सूर्य की आभा से जगमगा रहे थे। करीब दो मील बाद देवदार और बाँस के वृक्षों से भरा वन प्रारंभ हो गया। नीचे घाटी से बहती हुई यमुना का श्यामल जल मनोहारिणी था। मार्ग बड़ा ऊबड़खाबड़ था। मेरे पास लकड़ी न होने से बड़ी तकलीफ हो रही थी। ज़ंगल से बाँस की एक छड़ी तोड़ ली। इसी छड़ी ने गोमुख तक मेरा साथ दिया था। वन को पार कर हम लोग एक पहाड़ की तराई में पहुँचे। वहाँ पर एक नदी तीव्र गति से पहाड़ से उतरती हुई यमुना में मिलती है। इसे हनुमान-गंगा कहते हैं। इसके पास ही हनुमानचट्टी है। वहाँ पर चाय आदि पीकर आगे बढ़े। अब मार्ग यमुना के किनारे किनारे चला गया था। इस समय यमुना के अनेक रूपों के दर्शन का मौका मिला। चट्टानों पर नर्तन करती हुई; कहीं तीव्र गति से दौड़ती हुई, तो कहीं मंद मंद गति से इठलाती हुई, अल्हड़ बाला सी यमुना बही जा रही थी। श्याम श्वेत, लोल लोहित चट्टानों से टकराकर उसका श्यामवर्ण, फेनिल हो उठता था। इधर विभिन्न प्रकार के फूलों से लदे हुए वृक्ष और लताएँ दृष्टिगोचर होने लगीं। मार्ग बड़ा सुरम्य था। कैसे कट गया मालूम नहीं पड़ा।

१०½ बजे हम लोग फूलचट्टी पहुँच गए। १० हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित यह स्थान काफी ठंडा था। यहाँ से यमुनोत्री ५½ मील दूर है। मन में इच्छा हुई कि वहाँ जाकर रात बिताएँ। पर पंडों ने बताया कि वहाँ ठहरने की

व्यवस्था ठीक नहीं है। विशेषकर रात्रि में बहुत ठंड रहती है अतः वहाँ जाना उचित न होगा। कल की यात्रा की थकान अभी गई न थी। इसलिए आज फूलचट्टी में ही मुकाम डाला गया। दो दिन से स्नान भी नहीं हुआ था। २ फर्लाङ्ग की उतराई पर यमुना बह रही थी। अतः नहाने के लिए नीचे पहुँच गया। अपने पैर हिमवत् जल में डाल दिये। पैरों की थकावट दूर होती सी महसूस होने लगी। लोटे से जल लेकर अपने ऊपर डालने लगा। ऐसा लगा मानों हृदय स्पंदनहीन हो जायेगा। वह जल क्या था, बर्फ ही थी। पर कुछ देर में सारी थकावट जाती रही और शरीर अपूर्व ताजगी का अनुभव करने लगा।

बारह बजे दिन को ही बड़े जोरों की ठंड पड़ने लगी। बर्फानी हवा तेजी से बहने लगी। कुछ ही देर में आकाश में बादल छा गए। वे हिमाच्छादित शिखर जो सूर्य के प्रकाश में जगमगा रहे थे बादलों की ओट में ऐसे प्रतीत होने लगे मानों उनपर चाँदी की परतें मढ़ दी गई हों। हम लोग खा-पीकर कमरे के अन्दर जो घुसे कि बाहर निकलने की हिम्मत नहीं हुई। रात्रि के समय भोजन के लिए बाहर निकले। ठंड से शरीर अकड़ा जा रहा था। शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात थी। बादलों के छँट जाने से चारों ओर हिमकिरीट धारण किए हुए पर्वत अनुपम सौन्दर्य बिखेर रहे थे। ऐसी ही शोभा पिछले वर्ष केदार-नाथ में मैंने ज्योत्स्ना पूर्ण रजनी में निहारी थी। उसका वर्णन यह अक्षम लेखनी नहीं कर सकती।

दूसरे दिन सबेरे हम लोग पाँच बजे उठ गए। सामान बाँधकर चट्टी में ही छोड़ दिया और यमुनोत्री धाम के लिए रवाना हो गये। यहाँ से मार्ग सघन वन-प्रान्तर से होकर गया था। वनफूलों की भीनी भीनी सुगन्ध वातावरण में तैर रही थी। मार्ग वैसा ही खतरनाक था। जगह जगह पर चट्टानें खिसकी पड़ी थीं। कहीं कहीं पर मार्ग दो फुट चौड़ा होगा। एक ओर पहाड़ और दूसरी ओर खाई। पहाड़ भी ऐसे जो मार्ग के ऊपर शेड का काम कर रहे थे। थोड़ी असावधानी हुई कि सिर रंगा। मार्ग चढ़ाई-उतार का था। जानकीचट्टी, जो कि फूलचट्टी से १½ मील पर थी, पार करने के बाद कहीं कहीं जमी हुई हिमानी नदियाँ मिलीं।

जानकीचट्टी से २½ मील दूरी पर बीफ गाँव है। इसका वास्तविक नाम मार्कण्डेय तीर्थ है। मार्कण्डेय मुनि ने यहाँ पर कठिन तपस्या की थी। इस कारण इसका महत्त्व और भी अधिक है। यमुना के दूसरे किनारे पर खरसाली नामक ग्राम है जहाँ यमुनोत्री के पंडे निवास करते हैं। बीफ और खरसाली भारतीय सीमा पर के अन्तिम ग्राम हैं। हिमश्रेणियों के उसपार से तिब्बत प्रारंभ हो जाता है।

पहाड़ की भीषण चढ़ाई के बाद जब ऊपर पहुँचा तो मंदिर का कलश दिखाई देने लगा। हृदय आनन्द से पूरित हो उठा। थोड़ी ही देर में मैं यमुनोत्री धाम में था। दाईं ओर यमुनाजी का मंदिर था। किनारे से यमुना बही जा रही थी। सामने विशाल हिमपर्वत बंदरपूँछ खड़ा था।

यमुना ४-५ मील दूर उसके पीछे की ग्लेशियर से निकलती है। यहाँ पर इसका प्रवाह उत्तर की ओर है, इसीलिये इसे यमुनोत्री कहा जाता है। उसका जल यहाँ भी नीलवर्ण है। चौड़ाई १२-१३ फुट होगी। मंदिर नदी के उस पार है। नदी के ऊपर एक पुल बना है। मंदिर के दाईं ओर दो कुंड हैं। एक में ऊपर गोमुख से हमेशा उबलता हुआ जल गिरता है। लोग उसमें कपड़े आलू तथा चाँवल बाँधकर छोड़ रहे थे। वह पानी के नीचे जाता था तथा कुछ देर में पक कर ऊपर आ जाता था। कई लोग गीले आटे की बट्टी बनाकर कपड़े में डालकर अन्दर छोड़ देते थे। वह भी उसी तरह ऊपर आ जाता था। यात्रीगण इसे यमुना के प्रसाद के रुपमें ले जाते थे। नीचे के कुण्ड का पानी कुनकुना था। लोग उसमें स्नान कर रहे थे। ऊपर वाला कुण्ड सूर्यकुण्ड कहलाता है और नीचे का तप्त कुण्ड। लगातार चलाई के कारण मैं पसीने से नहा चुका था। शीघ्र ही कपड़े उतार कर कुण्ड में उतर पड़ा। पहले तो पानी इतना गरम महसूस हुआ कि शरीर जल जायेगा। पर थोड़ी देर में वही जल अनुपम आनन्ददायक लगने लगा। पूरे शरीर की अच्छी सिकाई हो गई। आधा घंटे तक उसमें डुबकियाँ लेता रहा। इस बीच में सेन और दत्त बाबू भी आ गये। वे भी स्नान करने लगे। अब भीड़ बढ़ने लगी थी। लोग सूर्यकुण्ड के पास पूजा-श्राद्धादि करा रहे थे। स्नान के बाद हम लोग मंदिर में दर्शन के लिए गए। वहाँ यमुनाजी का श्यामवर्ण का तथा गंगाजी

का श्वेतवर्ण का विग्रह है। यह मन्दिर चारों ओर हिम-शिखरों से घिरा हुआ है। वातावरण शांत और गंभीर था। यमुना का गंभीर कलनाद प्रतिक्षण संसार की निस्सारता का उपदेश दे रहा था। क्यों न दे, आखिर यमुना यमराज की ही तो भगिनी हैं। हम लोग उस अनुपम दृश्यावली का आनन्द उठाते बहुत देर तक बैठे रहे। वातावरण में कुछ ऐसा आकर्षण था, कि उठने की इच्छा नहीं होती थी। भगवान् शंकराचार्य विरचित यमुनाष्टक पाठ करने में बड़ा आनन्द आ रहा था। माता के चरणों में आचार्य शंकर की यह वाणी निवेदित कर हम लोग मदिर से बिदा हुए—

अतिविपदम्बुधिमग्नजनं भवतापशताकुलमानसकं
गतिमतिहीनमशेषभयाकुलमागतपादसरोजयुगम्।
ऋणभयभीतिमनिष्कृतिपातककोटिशतायुतपुंजतरं
जय यमुने जय भीतिनिवारिणि संकटनाशिनि पावय माम्॥

—"महान् विपत्तिसागर में डूबा, सैकड़ों सांसारिक सँतापों में जिसका मन व्याकुल है; जो गति और मति से शून्य तथा अनेक भयों से पीड़ित है; जो ऋण और भय से दबा हुआ तथा अनन्त गर्हित कर्मों का जो पुतला है; हे सकलभयनिवारिणि, संकटनाशिनि यमुने, तुम्हारे चरण-कमल युगल में पड़े हुए ऐसे मुझको पवित्र करो। तुम्हारी जय हो! जय हो!"

यमुनोत्री में भोजन करके हम लोग वापस चल पड़े। यात्रा का एक चरण पूरा हुआ। मन तृप्ति और आनन्द से भरा भरा था। जो देखा था वह अब हृदय-पटल पर अंकित हो गया था। शाम को हम लोग फूलचट्टी पहुँच गए।

दूसरे दिन उसी मार्ग से सेनाचट्टी होते हुए यमुनाचट्टी में मुकाम किया और तीसरे दिन, १७ मई रविवार को बरकोट बसस्टैंड से उत्तरकाशी के लिए रवाना हो गये।

(क्रमशः)

वर्तमानेन संतुष्टस्तथाप्युन्नत्यभीप्सया।
समुद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि॥

—मनुष्य को वर्तमान से संतुष्ट रहते हुए भी उन्नति की इच्छा से उद्योग में तत्पर होना चाहिए। साथ ही उस उद्योग के फल को परमात्मा पर छोड़ देना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

डा० त्रेतानाथ तिवारी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म बड़े ही धनाढ्य कुलमें हुआ था। आपके नानाके घर में तो स्वर्णपात्रों में भोजन होता था। मातृकुल भी महान् प्रतिष्ठित एवं विद्या-व्यसनी था। नानाके कोई संतान न होने से उभय कुल की सम्पत्ति के अधिकारी आपही थे किंतु आपने लक्ष्मी को सर्वश्रेष्ठ कभी न माना एवं समृद्ध तथा असमृद्ध दोनों अवस्थाओं में स्थित प्रज्ञ-वृत्ति से ही रहे। आप के कुटुम्बीय शुभ कार्यों में स्वयं काशीनरेश आकर उपस्थित रहा करते थे।

आपका परिवार समृद्ध एवं विद्वान् होने के अतिरिक्त भगवद्भक्त भी था। पिता श्री गिरिधरदास जी स्वयं उत्तम कवि थे। आपमें तो बाल्यकालसे ही अद्भुत काव्यप्रतिमा एवं भक्ति का प्रकाश हुआ था। पाँच वर्ष की आयु मेंही आपने अपने पिताके रचित "कथामृत" के अनुरूप एक छन्द रचा एवं उन्हीं के रचित अन्य एक छंदकी अपूर्व सुन्दर व्याख्या उपस्थित कर सबको चकित कर दिया था।

तेरह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह हो गया। आप शरीर से सुन्दर और स्वभाव से विनम्र थे। उदारता और दानशीलता में सत्ययुगीन हरिश्चन्द्र से थे। लम्बा कद, छरहरा शरीर, सुडौल नासिका, जादूभरे नैन, कानों

तक लटकती घुँघराली अलकें, उच्च ललाट और साँवले रंग का माधुर्य लोगों को विवश ही अपनी ओर खींच लेता था।

लक्ष्मी की आराधना आपने कभी न की किंतु सरस्वती की ऐसी सम्यक् पूजा की कि थोड़ी आयु में ही विद्वज्जनों, और राजा-महाराजाओं के आप सम्मानभाजन हो गये। आपकी ख्याति देशांतरों में भी पहुँची। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, रूस, अमेरिका आदि में आपके कई मित्र और प्रशंसक उत्पन्न हुए जिन्होंने आपसे सदैव पत्र-व्यवहार रखा और सहायता आदि करते रहे। हिन्दी रसिकों ने आपको 'भारतेन्दु' की पदवी से विभूषित किया और फारसी वाले आपको 'शायर मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' कहने लगे।

आपके पास द्रव्य अटूट था किंतु व्यय आपने मुक्त हस्त से किया। दीपावली में आपके यहाँ इत्र के दीपक जलाये जाते थे। चालीस-पचास आश्रित मित्र नाटक-तमाशे आपही के व्यय से देखते। सुरती मेंही प्रतिमास बहुत सा व्यय हो जाता। सम्पत्ति इस प्रकार अनेकों मार्गों से बहिर्गमन करने लगी। लोग रकमें ले-लेकर हजम करने लगे किंतु जानकर भी आप मूक रहते। काशी-नरेश ने चेतावनी दी तो आपने उत्तर दिया, "इस लक्ष्मीने हमारे पूर्वजोंको खाया है किंतु अब हम इसे खा जायेंगे।" तथापि इनके धनका विशेष अंश परोपकार, हिन्दी-प्रचार, गुणिजन-सत्कार, दुःखियों के दुःख निवारण, देशोद्धार, एवं सार्वजनीन उपकार-कार्यों में ही लगा।

आपकी नानी जीने किन्हीं के सुझाव से अपनी समस्त

सम्पत्ति आपके छोटे भाई को देने के लिये दानपत्र तैयार करा लिया। जब आपकी स्वीकृति के लिए उस दानपत्र को आपके सम्मुख रखा गया तो आप बोले, "धन तो उन्हीं का है, किसी को भी दे सकती थीं; किंतु वे तो छोटे भाई को ही देरही हैं इससे अधिक आनन्द का विषय और क्या हो सकता है;" और तुरंत हस्ताक्षर कर दिये।

इस प्रकार आपको कोई दोष न छू पाया। किंतु दिन फिर गये। तथापि आपको भोजन-वस्त्र का कष्ट कभी न हुआ। ठाकुरजी का प्रसाद आनंद से पाते और बड़े बड़े राजा-महाराजा बिना माँगे आपकी सहायता करते रहते थे।

कभी कभी देखने में आता, अनेकों पत्रों के उत्तर टेबल पर तैयार रखे हैं किंतु टिकट के लिये द्रव्य नहीं है। ऐसा होता कि कोई सबको टिकट लगा कर छोड़ आता।

संपन्नता और विपन्नता दोनों में आप समभाव रहे। न मानसिक विचलन हुआ और न दान, परोपकार ही रुका। रुपया आतेही दीन-दुखियों को दे डालते। आपके पास कवि-रसिकों और दीन-दुखियों की सदा भीड़ बनी रहती।

यदि कभी कोई सज्जन व्यक्ति द्रव्याभावसे पीड़ित हो। और आपके पास तत्काल उसकी सहायता करने को द्रव्य न हो, तो आपको दुःख होता था। अपने एक नाटक में आपने इसी अवस्था का चित्रण किया है। इतना होते

हुए भी स्वाभिमान विरहित आर्थिक सहायता आपने कभी स्वीकार नहीं की।

आश्चर्य है कि ३५ वर्ष की अपनी आयु के स्वल्प काल मेंही आपने अनेकों रचनाएँ सम्पन्न करलीं। एक एक बैठक में कभी कभी आप एक पुस्तक सम्पूर्ण करलेते थे। सभाओं में समस्यापूर्ति की झड़ीसी लगा देते थे। हिन्दी साहित्य को आपने विविध धाराएँ प्रदान कीं एवं खड़ी बोली को परिष्कृत कर उसे राष्ट्रीयता के नाद से गुंजायमान कर दिया।

अधिकांश जनता ने आपके भक्त रूप का दर्शन नहीं किया है। आप वल्लभ-सम्प्रदाय के परमभक्त दीक्षित वैष्णव थे। श्री वल्लभाचार्य एवं उनके पवित्र कुल के प्रति आपकी अडिग आस्था थी। भगवान् श्री राधाकृष्ण आपके प्रिय उपास्य एवं सर्वस्व थे। आपने श्री नाभाकृत भक्तमालमें अपनी कृति उत्तरार्ध भक्तमाल सम्मिलित की है। श्री राधारानी की चरण-शरण में आपने अपनी भक्तिवल्लरी को हरा-भरा किया था। आपकी कविता राधाकृष्ण-युगलचरण के सुधासागर से निःसृत सरितासी थी। साहित्य में आपने राष्ट्रीयता एवं भक्ति की स्थापना की। आपकी विनम्रता और विराग सराहनीय था। आप अपने विषय में कहते हैं—

जगत जालमें नित बंध्यो पर्‍यो नारिके फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचंद॥

आप सदा राधाकृष्ण के प्रेम में डूबे रहते थे और समस्त जगत् में आप इन्हीं युगल सरकार की सरस व्याप्ति का अनुभव पाते थे। तथापि उनकी इस भक्ति-मूलक लतामें ज्ञान-पुष्प भी लगे थे।

आप श्रीकृष्ण से रीझ-खीझ दोनोंका भाव रखते किंतु राधारानी के सीधे-सादे सेवक-से ही रहते थे। कहते, "श्रीराधे मोहिं अपनो कब करिहौ।" अपने संबंध में आप बताते थे, हम "सखा प्यारे श्याम के, गुलाम राधेरानी जूके" हैं। आपका भजन 'नयन भरि देखि लेहु यह जोरी' प्रसिद्ध है।

अन्तिम दिनोंमें आप क्षयरोगसे पीड़ित हो गये। अब शृंगारमूलक भक्तिस्रोत ने शांतरस का स्वीकार किया। मृत्युशय्यापर कहने लगे, प्राणों को 'प्यास लगी है', जिसका अर्थ जानकर आपको घनानन्द के सवैये सुनाये गये। तथा लीलाधाम की यात्रा आपने 'रसने रटु सुन्दर हरिनाम' यह भजन कहते कहते की। आपकी मृत्यु के पश्चात् आपके नाम से एक नवीन संवत् का प्रारम्भ किया गया।

बालकों के प्रति

: एक दास :

आज के युगमें बालक-बालिकाओं एवं ग्रामीण जनता के हाथों में सस्ती और चरित्रको भ्रष्ट करनेवाली पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ मिलेंगी। पहले के जमाने में कम पढ़े - लिखे नरनारियों के हाथों में केवल रामायण, सुखसागर आदि एक - दो सुन्दर ग्रन्थ ही मिलते थे। उन्हीं को वे जन्मभर पढ़ा करते थे जिससे वे चरित्र बिगाड़ने वाले विचारों से पूरी तरह बचे रहते थे।

इस स्तम्भ को इसी दृष्टि से प्रारम्भ किया जारहा है कि सरल रीति से उत्तम विचार उपस्थित किये जायें जिससे उन लोगों को लाभ पहुँचे जिनकी विचारधारा अभी परिपक्व नहीं हुई है।

<u>बालक कौन हैं?</u>—आप पूछेंगे बालक कौन हैं? बालक की परिभाषा में वे सभी आयेंगे जो अपने को बालक समझते हों, जो नम्र हों, जो उत्तम विचार जहाँ भी मिलें वहाँ से लेकर अपनाने को तैयार हों।

एक सज्जन के यहाँ निमंत्रण था। भीतर के बड़े कमरे में स्थान कुछ कम पड़ा। इतने में दो-चार प्रौढ़ और आगये। भीतर बच्चे भी थे। गृहस्वामी ने कहा, "बच्चे लोग कृपाकर बरामदे में बैठ जायें।" कोई पूछ बैठा, "भाई, बच्चे कौन माने जायेंगे"? गृहस्वामी के मुँह से निकल

गया, "जो जो अपने को बच्चा समझते हों।" परिणाम सुन्दर हुआ। अधिकांश बच्चे और कुछ युवक बरामदे में चलेगये और भीतर पर्याप्त स्थान खाली होगया।

सनत्कुमार आदि चार ऋषि सदा बालक अवस्था में ही रहते हैं। उन्हें वही पसन्द है। तुलसीदासजीने इनके विषयमें कहा है—"देखत बालक बहु कालीना।" बालक मान और अपमान का ख्याल नहीं करता, वह सदा प्रसन्न रहता है तथा सभी से उत्तम बातें सीखता रहता है। वे भाग्यवान् हैं जो सदा अपना स्वभाव बालकों का - सा बनाये रख सकते हैं। वार्धक्य उनसे दूर हीं रहता है। वास्तव में हम सभी बच्चे हैं किंतु हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपने को बच्चा नहीं समझते। बच्चा सभी ओरसे ज्ञान, उपदेश और शिक्षा ग्रहण कर सकता है। किंतु ज्यों ज्यों व्यक्ति बढ़ता जाता है, उसका अहंभाव उसे कड़ा बनाता जाता है। फलस्वरूप उसकी नम्रता और ग्रहणशीलता घटती जाती है। रबर जब पुराना हो जाता है तब उसमें लचीलापन नहीं रह जाता। वह कड़ा होकर यहाँ - वहाँ से तड़ककर फटने लगता है। मनुष्य कीं हड्डियाँ बचपन में नरम होती हैं, चोट लगनेपर पूरी तरह टूटतीं नहीं। किंतु वेही बुढ़ापे में कड़ी होजाती हैं और शीघ्र टूटने लग जाती हैं। इसीप्रकार जब हम अपने को बुद्धिमान् समझने के कारण आसपास से भली बातें ग्रहण करने में असमर्थ हो जाते हैं, तो समझना चाहिये कि हममें एक प्रकार का ह्रास प्रारम्भ हो गया है। अर्थात्, स्वभावमेंसे लचीलेपन और

आध्यात्मिक ग्रहणशीलता का दूर होते जाना किसी अंश में बुढ़ापे का ही लक्षण है।

दत्तात्रेय भगवान् सभी जगह से ज्ञान ग्रहण कर लेते थे। इसीलिये उन्होंने छोटे-बड़े मिलाकर चौबीस गुरु बनाये थे। इनमें पक्षी, वानर, वेश्या आदि सभी प्रकार के जीव हैं। उन्होंने ज्ञान ग्रहण करने में अपने को सबसे छोटा माना, जैसे कि गंगानदी में प्रारंभ में अनेकों बड़ी नदियाँ आकर मिली हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब बड़ी नदियाँ गंगा में मिलीं तो नाम गंगा का क्यों बना रहा, बड़ी नदी का क्यों न हुआ? इसका कारण यह है कि गंगा बहुत नीचे धरातलपर थीं और बड़ी नदियाँ ऊँचाई पर। जब दोनों मिलीं तो बड़ी का यह गंगा में मिलन मानागया और नाम गंगा का ही बना रहा। यह नम्रता का लाभ है। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि कीर्तन का उत्तम अधिकारी वही है जो अपने को तृण से भी नीचा मानकर नम्रता पूर्ण व्यवहार करे। एक बार संन्यासियों की महासभामें आप गये तो पानी की मोरी के पास जाकर चुपचाप बैठ गये। पूछने पर उत्तर दिया कि भाई, हम छोटे दरजे के संन्यासी हैं। बड़ी कठिनता से उन्हें लेजाकर उत्तम आसन पर बिठाया जा सका।

रामकृष्ण परमहंस भवतारिणी देवीके पास बालक-भाव में माँ-माँ कहकर रोते हुए पहुँच जाते थे और वहाँ उनकी सब गुत्थियाँ सहजमें सुलझ जाती थीं।

मन की स्वतंत्रता—आजकल सभी स्वतंत्र रहना चाहते

हैं। कोई दबकर किसी की आज्ञा में चलना नहीं चाहता। कहते हैं, "हम नियमों का वंधन नहीं चाहते, हम स्वतंत्र रहना चाहते हैं।" संत-विनोबाभावे कहते हैं, "भाई, तब तुम क्या करना चाहते हो ?" उत्तर मिलता है, "हम अपने मनके अनुसार सब काम स्वतंत्रता से करना चाहते हैं।" विनोबाजी कहते हैं, "तुम भूल रहे हो। इससे तुम बंधन से छूट नहीं रहे हो बल्कि अपने मनकी करने से तुम मनके बंधन में बेतरह जकड़े जा रहे हो, अपने मन के सबसे बड़े गुलाम हुए जारहे हो। फिर यह मन तुम्हें न जाने कहाँ ले जाकर पटक दे क्या भरोसा ?"

तुम्हारा मन अभी एक काम करना चाहता है, बादमें उसे छोड़कर तुम्हें दूसरी ओर लेजाना चाहता है। कुछ समय बाद वही स्वयं पछतावा करता है कि ऐसा करना अनुचित हुआ। पुराने ऋषियों ने इस बात को पहचान लिया था और उन्होंने तय किया था कि हम मन के दास न बनकर मनके स्वामी बनेंगे और स्वतंत्र रहते हुए जो उचित और कल्काणकारी दिखाई देगा, वही करेंगे।

<u>बुद्धि</u>—उचित, उत्तम और कल्याणकारी क्या है इसकी जाँच आपकी बुद्धि करेगी। किन्तु बुद्धि भी उत्तम हथियार नहीं है। आप कपड़े को गज से नापते हैं पर यदि गज ऐसा हो कि वह कभी छोटा और कभी बड़ा हो जाये, तो उस नाप से क्या लाभ ?

कोई प्रश्न उपस्थित होनेपर आप तुरन्त उत्तर देते हैं, "भाई, यह बात हमारी बुद्धि में नहीं समाती।" "इस

बात को हमारी बुद्धि स्वीकार नहीं करती," इत्यादि।

बुद्धि के विषय में यदि आप सोचें तो सहज में ही आपको मानना पड़ेगा कि बुद्धि बहुत भरोसा करने के लायक चीज़ नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों आपकी आयु बढ़ेगी, आप अधिकाधिक समझदार होते जायेंगे। दूसरी छोर से आप इसी तर्क को लागू कर सोचें तो आपको मानना पड़ेगा कि १०।२० वर्ष पश्चात् के भविष्य की तुलना में अभी आज आप कम-समझ हैं। बताइये, जब आप किसी विषय का निर्णय करने लगेंगे तो अपनी आज की बुद्धि के अनुसार निर्णय करेंगे अथवा आज से २० वर्ष के पश्चात् वाली बुद्धि के अनुसार? इसी प्रकार अनेक लोग आज ही आपकी २० वर्ष बाद वाली बुद्धि से अधिक उत्तम बुद्धि रखते हैं। बताइये अब आप किसकी बुद्धि के अनुसार चलेंगे? जब हम अशांत चित्त रहते हैं, क्रोधमें अथवा दुःख आदिमें रहते हैं तब किसी विषय पर एक प्रकार का निर्णय करते हैं किंतु बादमें उसी विषय पर गंभीरता और शान्ति से विचार करने के पश्चात् उस निर्णय को बदल देना उचित समझते हैं। इसी प्रकार जिस विषय में हमारा कुछ स्वार्थ छिपा रहता है, उस पर हमारा निर्णय निर्दोष होने का विश्वास नहीं रहता। हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने जीवन के सभी प्रश्नोंपर गंभीरता और शांति से दीर्घ काल तक विचार करके उनपर निर्णय स्थिर किया है। एकांत में, शांति से, तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए, निःस्वार्थ भाव से जीवन की समस्याओं पर

मंथन किया है और वे हमें अपना निष्पक्ष निर्णय दे गये हैं। हमें चाहिये कि हम उनपर विचार कर उनके दिखाये मार्गों को अपनायें और अपना कल्याण करलें। साधारण जन के लिए उत्तमोत्तम महापुरुषों के चरणचिह्नों पर चलते जानाही सरल और कल्याणकारी पथ है।

मनुष्य की सीमा—मनुष्य की ऐन्द्रिक शक्तियाँ सीमित हैं। अधिक मीठी वस्तु कड़वी लगती है। कम मीठी में मिठास का पता नहीं लगता। मंद आवाज सुनाई नहीं पड़ती। जोरकी आवाज में कान बहरे हो जाते हैं। मंद प्रकाश में दिखाई नहीं पड़ता और तीव्र प्रकाश में आँखें चौंधिया जाती हैं, दर्द होने लगता है, कभी-कभी आँखें अंधी हो जाती हैं। यहाँ तक कि मृत्यु ला देने वाली किरणें भी विज्ञान ने आज खोज निकाली हैं। मंद गंध जान नहीं पड़ती। तीव्र गंधमें कुछ देर में नाक थक जाती है और गंध लेना बंद कर देती है। किसी दुर्गन्धित स्थान में पहले तो बड़ी असुविधा जान पड़ती है। बाद में हम कहने लगते हैं, अब तो दुर्गन्ध आपही आप बहुत कम हो गई है। इसी प्रकार मनुष्य की बुद्धि, मन, विचारशक्ति सभी अपनी-सीमा में बँधे हैं। इस परिस्थिति को समझकर मनुष्य को नम्र रहना चाहिये। अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि की उचित से अधिक महिमा मानकर अहंभाव नहीं धारण करना चाहिये। अपने से श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति आदर और श्रद्धा रखनी चाहिये तथा उनका अनुकरण कर अपना कल्याण साधन कर लेना चाहिये।

प्रश्न— सभ्यता और संस्कृति क्या एक दूसरे के पर्याय हैं ? यदि नहीं, तो उनमें क्या अन्तर है ?

— प्रमोद नारंग, जोधपुर

उत्तर — नहीं, दोनों में अन्तर है। मन और शरीर के समान संस्कृति और सभ्यता भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक जाति का एक लक्ष्य होता है— चाहे जागतिक हो या आध्यात्मिक। प्रत्येक जाति या राष्ट्र अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसका यह प्रयत्न दो स्तरों पर प्रकाशित होता है — एक शरीर के स्तर पर, जो वेश - भूषा, खान-पान, आमोद-प्रमोद इत्यादि के रूप से प्रकट होता

है; और दूसरा मन के स्तर पर, जो वैचारिक मान्यताओं के रूप ये सामने आता है। प्रथम स्तर को सभ्यता कहते हैं और दूसरे को संस्कृति। इस प्रकार, संस्कृति को सभ्यता का मन कहा जा सकता है और सभ्यता को संस्कृति का शरीर।

❁

प्रश्न — हठयोग की क्रियाओं से क्या लाभ होता है ? मैं कई वर्षों से ऐसी क्रियाओं का अभ्यास कर रहा हूँ पर कोई आध्यात्मिक प्रगति नहीं दिखाई देती। ऐसा क्यों ?

— माधव पांडुरंग गोखले, अहमदाबाद

उत्तर — हठयोग से शरीर स्वस्थ रहता है, यह उसका लाभ है। उसका दोष यह है कि उसकी क्रियाओं पर ही विशेष जोर देने से वह मनुष्य को शरीर में बाँध देता है। साधक हरदम शरीर और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सोचता रहता है, इससे उसकी दृष्टि मन के विकास की ओर नहीं जा पाती। आध्यात्मिक प्रगति मन के विकास का ही दूसरा नाम है। अतः मानसिक विकास के लिए अध्यात्म के इच्छुक साधकों को प्रयत्नशील होना चाहिए। हठयोग की क्रियाओं पर अधिक जोर देने से मन का विकास कुण्ठित हो जाता है। इसलिए हठयोग का उतना ही अभ्यास करना चाहिए जिससे शरीर स्वस्थ और निरोग रहे। आध्यात्मिक प्रगति के लिए जप और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

❁

प्रश्न — क्या पुनर्जन्मवाद की कोई वैज्ञानिक भित्ति है ?

— शरद श्रीवास्तव, भिलाई

उत्तर — वैज्ञानिक भित्ति से आपका क्या तात्पर्य है ? यदि आपका मतलब युक्तियुक्तता से हो तो पुनर्जन्मवाद पूरी तरह युक्तियुक्त है। जगत् के जीवों के, और विशेषकर मानवों के वैभिन्न्य का समाधान अन्य किसी वाद से नहीं हो सकता। कोई मनुष्य निर्धन है और कोई धनी, कोई रोगी है और कोई स्वस्थ, कोई अल्पबुद्धि है और कोई मेधावी—इस सब पृथकता का समाधान एकमात्र पुनर्जन्मवाद से ही हो सकता है। और यह वैज्ञानिक प्रणाली है कि जो सिद्धान्त किसी क्षेत्र में सबसे अधिक शंकाओं का समाधान करता हो वह उतना ही ग्राह्य होता है। इस दृष्टि से पुनर्जन्मवाद मानव-जीवन में व्याप्त विषमताओं का तर्कसंगत विवेचन प्रस्तुत करता है और उनसे अपने आपको बचाकर शान्ति के पथ पर ले जाने का उपाय भी प्रदर्शित करता है।

आश्रम समाचार

(१ दिसम्बर से २० फरवरी तक)

स्वामी आत्मानन्द के कार्यक्रम अधिकतर बाहर ही होने के कारण इस अवधि में स्वामीजी ने रविवासरीय उपनिषद्-प्रवचनमाला के अन्तर्गत ९, १६ जनवरी, तथा ६, १३ फरवरी को कठोपनिषद् पर १४ वाँ, १५ वाँ, १६ वाँ और १७ वाँ प्रवचन किया।

२ दिसम्बर को स्वामीजी इन्दौर में थे। वहाँ के गीताभवन ने गीता-जयन्ती के उपलक्ष में स्वामीजी को २ से १० दिसम्बर तक नौ दिनों के लिए आमंत्रित किया था। स्वामीजी ने इन नौ प्रवचनों में गीता पर सम्यक् रूप से चर्चा की। गीता की भूमिका, उसका सिद्धान्त और उसको व्यवहार में लाने के उपायों पर स्वामी आत्मानन्द ने विशद, युक्तियुक्त और व्यावहारिक विवेचन प्रस्तुत किया। उनके एवंविध विवेचन से प्रभावित होकर अनेकानेक व्यक्तियों ने स्वामीजी से व्यक्तिगत रूप से मिलकर अपनी कई शंकाओं का समाधान प्राप्त किया।

इन्दौर में अवस्थान करते समय स्थानीय रामकृष्ण आश्रम में भी सन्ध्या को स्वामीजी के कार्यक्रम रखे गये थे। दो दिन की चर्चाएँ उल्लेखनीय हैं जब स्वामीजी ने 'समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' तथा 'रामायण-रूपक' पर व्याखान दिये। ३ दिसम्बर को 'समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' पर बोलते हुए स्वामीजी ने भगवान् श्रीरामकृष्ण की विविध साधनाओं का उल्लेख किया और कहा कि श्रीरामकृष्ण ने समन्वय करना है' ऐसा सोचकर समन्वय-कार्य नहीं किया, बल्कि उनका समूचा जीवन ही ऐसे साँचे में ढला था कि उनके प्रत्येक सहज कर्म

और सहज वाणी से समन्वय की सुषमा बिखरी पड़ती थी। उनका जीवन मानवता और मानव-धर्म का सहज मूर्तिमान् विग्रह था। आत्मानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्तों के माध्यम से ईश्वरकृपा और पुरुषार्थ; ईश्वर नियति और इच्छास्वातंत्र्य; विभिन्न मतवाद; आदर्श और यथार्थ आदि तरह तरह के द्वन्द्वों में सामजस्य का आविष्कार किया और श्रीरामकृष्ण के सर्वग्राही रूप पर सुन्दर विवेचना की। ४ दिसम्बर को गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के उद्धरण देते हुए उन्होंने रामायण के पात्रों का एक अत्यन्त सुन्दर रूपक खड़ा किया।

इन्दौर के भिन्न-भिन्न स्थानों में भी स्वामीजी के प्रवचनों का आयोजन हुआ। वहाँ के होल्कर कला महाविद्यालय में उन्होंने ४ दिसम्बर को 'विद्यार्थियों को स्वामी विवेकानन्द का सन्देश' इस विषय पर व्याख्यान दिया और ७ दिसम्बर को वे होल्कर विज्ञान महाविद्यालय में 'धर्म और विज्ञान' पर बोले।

१२ दिसम्बर को विवेकानन्द मित्र मंडल द्वारा आमंत्रित होकर स्वामी आत्मानन्द विदिशा पहुँचे। अपराह्न तीन बजे एक जनसभा हुई जिसकी अध्यक्षता वहाँ के जिलाधीश श्री एन० के० बनर्जी ने की। स्वामीजी का स्वागत करते हुए जिलाधीश महोदय ने स्वामीजी के साथ अपने पूर्व परिचय का उल्लेख किया और स्वामीजी की समाज-उन्नयनकारी गतिविधियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। स्वामी-जी ने 'स्वामी विवेकानन्द की भारत को देन' इस विषय पर अत्यन्त सारगर्भित व्याख्यान दिया।

१३ दिसम्बर को सागर विश्वविद्यालय के 'विवेकानन्द संघ' का उद्घाटन करने के लिए स्वामीजी सागर पहुँचे। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता सागर विश्वविद्यालय के उपकुलपति माननीय डा० महादेव

प्रसाद जी शर्मा ने की। स्वामी आत्मानन्द ने अपने उद्घाटन-भाषण में स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्र-निर्माता पहलू पर विशेष जोर दिया और विद्यार्थियों के दायित्व पर चर्चा की।

१६ दिसम्बर को स्वामी आत्मानन्द अकलतरा गये। वहाँ जिला शैक्षणिक क्रीड़ा (ओलम्पिक) प्रतियोगिता के अन्तर्गत उन्हें 'पुस्तक मेला' के उद्घाटन के लिये आमंत्रित किया गया था। स्वामीजी ने अपने उद्घाटन-भाषण में 'ओलिम्पिक' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा कि किस प्रकार यूनान की २७०० वर्ष प्राचीन यह ओलिम्पिक परम्परा आज पारस्परिक सद्भाव और विश्वबन्धुत्व का प्रतीक बन गयी है।

२७ दिसम्बर को स्वामीजी ने अम्बिकापुर में 'गीता का व्यवहारशास्त्र' पर उद्बोधक भाषण दिया। जिलाधीश श्री एम० एम० तिवारी ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। कड़ी शीत के बावजूद भी पर्याप्त संख्या में श्रोतागण उपस्थित थे। ८ जनवरी को स्वामीजी ने कल्याण कला, वाणिज्य एवं विधि महाविद्यालय, भिलाई के स्नेह सम्मेलन का उद्घाटय किया। इस अवसर पर उन्होंने विद्यार्थियों के दायित्व पर विशेष रूप से चर्चा की और सफल जीवन यापन करने के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सूत्र बतलाये।

विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा आमंत्रिन होकर स्वामी आत्मानन्द २२, २३ और २४ जनवरी को प्रयाग में थे। २३ जनवरी को प्रातः-कालीन बैठक में उन्होंने 'अनेकता में एकता' पर व्याख्यान दिया।

३० जनवरी को योग-सम्मेलन, गोंदिया में आमंत्रित होकर स्वामीजी ने 'गीता और हम' पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि गीता का उपदेश कर्म के त्याग का नहीं, वल्कि कर्म

के विष का त्याग है। स्वामीजी ने कर्म के इस विष को त्यागने के गीतोक्त उपाय भी सामने रखे। १६ फरवरी को स्वामीजी ने दुर्ग जिले के अन्तर्गत अकोला ग्राम में 'भक्ति कैसे करें' विषय पर प्रवचन दिया। १८ फरवरी को गोंदिया में उन्होंने 'विवेकानन्द अध्ययन केन्द्र' का उद्‌घाटन किया और अखिल भारतीय सन्त सम्मेलन में 'धर्म का स्वरूप' पर अत्यन्त मार्मिक, समयानुकूल व्याख्यान दिया।

विवेकानन्द - जयन्ती - महोत्सव

इस वर्ष युगाचार्य स्वामी विवेकानन्दजी की १०४ थी जयन्ती के उपलक्ष में २३, २६, २७, २८ और २९ फरवरी को आश्रम - प्रांगण में विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह का गौरवपूर्ण आयोजन किया गया था। २३ जनवरी को सायंकाल ५ बजे से अन्तर्महाविधालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता और तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता रखी गयी थी। वादविवाद प्रतियोगिता में विभिन्न महाविद्यालयों के २२ प्रतियोगियों ने भाग लिया। वादविवाद का विषय था—"आज भारत की उन्नति के लिए राजनैतिक और वैज्ञानिक क्रान्ति की अपेक्षा सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनर्जागरण की अधिक आवश्यकता है।" इस कार्यक्रम की अध्यक्षता रायपुर नगरपालिका के अध्यक्ष श्री बुलाकीलाल पुजारी ने की। विजेताओं में प्रथम स्थान श्री ए० के० वर्मा, मेडिकल कालेज, रायपुर को, द्वितीय श्री पी० एस० शास्त्री, शासकीय अभियांत्रिक एवं प्रौद्योगिक महाविद्यालय, रायपुर को तथा तृतीय कुमारी मधुरिमा श्रीवास्तव, शासकीय महिला महाविद्यालय, रायपुर को प्राप्त हुआ। विवेकानन्द रनिंग शील्ड मेडिकल कालेज के प्रतियोगियों को प्रदान की गयी।

तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता में भी विभिन्न महाविद्यालयों के २२ प्रतिस्पर्धियों ने भाग लिया। श्री जयदेव शरण, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर को प्रथम, श्री वी० एस० शास्त्री को द्वितीय तथा श्री राघवेन्द्र गुमास्ता को तृतीय स्थान प्राप्त हुआ। रनिंग शील्ड दुर्गा महाविद्यालय के प्रतियोगियों को प्रदान की गया।

यह उल्लेखनीय है कि विवेकानन्द वादविवाद प्रतियोगिता के लिए दुर्गनिवासी दाऊ फकीरसिंह चन्द्राकर ने विवेकानन्द आश्रम को एक रनिंग शील्ड प्रदान की है।

२६ जनवरी, १९६६

आज विवेकानन्द-जयन्ती-महोत्सव का दूसरा दिवस था। सन्ध्या ६॥ बजे भिलाई इस्पात कारखाने के चीफ डिज़ाइनिंग और प्लानिंग इंजीनियर श्री टी० एस वेदागिरि ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। आज के परिसंवाद के लिए तीन विषय रखे गये थे: 'आधुनिक मानव को श्रीरामकृष्ण का संदेश', 'यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते' और 'स्वामी विवेकानन्द और भारतीय नवजागरण'।

'भारतीय नवजागरण और स्वामी विवेकानन्द' विषय पर भाषण देते हुए प्राध्यापिका कुमारी साधना मुखर्जी ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीय समस्याओं का गम्भीर अध्ययन किया था और उनके निराकरण के लिये ठोस सुझाव भी दिया था। स्वामीजी के कार्यों की विशद विवेचना करते हुए उन्होंने आगे कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने भारत माता को जनता का आराध्य बनाया और देशवासियों के सामने एक नया लक्ष्य रखा।

पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के प्राचार्य श्री संतोषकुमार झा ने अपने सारगर्भित भाषण में कहा कि स्वामी विवेकानन्द जी का विश्वास था कि व्यक्ति-निर्माण के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। विदेश से वापस लौटकर स्वामीजी व्यक्ति-निर्माण के कार्य

में लग गये थे। उन्होंने कहा कि यदि आज स्वामीजी होते तो वे व्यक्ति-निर्माण के कार्य पर ही अधिक बल देते। श्री झा 'यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते' विषय पर अपने विचार प्रकट कर रहे थे।

विवेकानन्द आश्रम के अध्यक्ष स्वामी आत्मानन्द ने 'आधुनिक मानव को श्रीरामकृष्ण का संदेश' पर मार्मिक भाषण देते हुए कहा कि श्रीरामकृष्णदेव ने आधुनिक युग के संदेहों और दार्शनिक शंकाओं का समाधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक दर्शन में स्वतंत्र इच्छा-शक्ति और नियतिवाद के बीच बड़ा विवाद पैदा हो गया है। श्रीराम-कृष्णदेव ने अपनी अलौकिक मेधा से इन विवादास्पद तथ्यों के बीच अपूर्व समन्वय स्थापित किया है और स्पष्ट रूप से यह बताया है कि मनुष्य कितनी सीमा तक स्वतंत्र है और कितनी सीमा तक भाग्य के द्वारा संचालित होता है। अपने प्रेरक भाषण में स्वामीजी ने आधु-निक मनुष्य की समस्याओं का उल्लेख करते हुए कहा कि श्रीराम-कृष्णदेव की वाणी इनका एक अचूक निदान प्रस्तुत करती है। श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों को उद्धृत करते हुए विद्वान् वक्ता ने कहा कि ईश्वर पर आस्था रखनेवाले मनुष्य अपने जीवन की असफल-ताओं से भी शक्ति ग्रहण करते हैं।

अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री टी० एस० वेदागिरि ने श्रीमत् शंकराचार्य से स्वामी विवेकानन्द की तुलना करते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द आधुनिक शंकराचार्य थे। जिसप्रकार भगवान् शंकराचार्य ने वैदिक धर्म को शून्यवादी बौद्धों के अनास्थावाद और संशयवाद के तूफानों से बचाकर उसकी पुनःप्रतिष्ठा की थी, उसीप्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने आधुनिक युग में वैदिक धर्म की रक्षा भौतिकता की विनाशक आँधी से की थी और उसे सुदृढ़

बनाया था। अपने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान में श्री वेदगिरि ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य के समान महापुरुष थे जिन्होंने धर्म की संस्थापना के लिये शरीर धारण किया था।

२७ जनवरी, १९६६

विवेकानन्द जयन्ती महोत्सव के तीसरे दिन सन्ध्या ६॥ बजे एक परिसंवाद का आयोजन किया गया था। इस परिसंवाद में चार विषय रखे गये थे। रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० बाबूराम जी सक्सेना इस परिसंवाद की अध्यक्षता कर रहे थे।

'व्यक्ति को धर्मका प्रयोजन' विषय पर व्याख्यान करते हुए संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने कहा कि धर्म के द्वारा ही व्यक्ति का जीवन नैतिक बन सकता है। धर्म वह मूलतत्त्व है जिसके अभाव में जीवन में संतुलन नहीं रहता। डा० द्विवेदी ने कहा कि धर्म से ही जीवन को संगठित किया जा सकता है।

रविशंकर विश्वविद्यालय के नृतत्त्व विज्ञान और समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० टी० बी० नायक ने 'समाज और राष्ट्र में धर्म का स्थान' विषय पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि धर्म पार्थिव और अपार्थिव दो तत्वों से युक्त होता है। धर्म की प्राप्ति के लिये जो क्रियायें की जाती हैं वे सभी पार्थिव होती हैं। मनुष्य इन पार्थिव क्रियाओं से नहीं बच सकता तथा इन पार्थिव क्रियाओं से समाज में व्यवस्था बनी रहती है।

राजकीय विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर के प्राचार्य डा॰ रविप्रकाश ने 'शिक्षा में धर्म की उपयोगिता पर' प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि अन्धविश्वासों के कारण समाज में बड़ी गड़बड़ी पैदा होती है। अन्धविश्वास से ग्रस्त समाज में छुआछूत और जाति-भेद का विष फैल जाता है। विद्वान् वक्ता ने कहा कि धर्म की उचित शिक्षा से ही इन दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

'विज्ञान के लिये धर्म की आवश्यकता' पर प्रकाश डालते हुए स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि विज्ञान और धर्म परस्पर विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं प्रत्युत वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। स्वामीजी ने अपने सारगर्भित व्याख्यान में वैज्ञानिक विकास के इतिहास का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया और बताया कि कैसे विज्ञान स्थूलतर जिज्ञासाओं का त्याग करता हुआ निरन्तर सूक्ष्मतर वस्तुओं के अध्ययन की ओर बढ़ता गया है। आत्मानन्दजी ने अपने प्रभावी भाषण में कहा कि आज विज्ञान निश्चिततावाद और अनिश्चितवाद के सोपानों को पार कर एक ऐसे विन्दु पर पहुँच गया है जिससे आगे बढ़कर सृष्टि के रहस्यमय तत्त्व को जानना उसकी शक्ति के बाहर है। जहाँ वैज्ञानिक प्रयत्नों का अन्त होता है वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसे रहस्यों की जानकारी वैज्ञानिक प्रयोगों से नहीं अपितु धर्म की अनुभूति से प्राप्त की जा सकती है।

अध्यक्ष पद से परिसंवाद का समारोप करते हुए माननीय डा॰ बाबूराम जी सक्सेना ने धर्म के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक युग में धर्म की आवश्यकता महसूस की गयी है। प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक, व्यावहारिक धर्म का पालन करना ही पड़ता है।

२८ जनवरी, १९६६

जयन्ती समारोह के चौथे दिन रामायण के प्रमुख पात्रों पर एक रोचक परिसंवाद का आयोजन किया गया था। स्वामी आत्मानन्द इस परिसंवाद की अध्यक्षता कर रहे थे। इस परिसंवाद में दस वक्ताओं ने रामायण के प्रधान पात्रों के विषय में अपने विचार प्रकट किये। दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक लक्ष्मीकान्त शर्मा ने दशरथ को मानवीय गुणों से सम्पन्न बताया। दशरथ के चरित्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि दशरथ जीवात्मा के प्रतीक हैं। कैकेयी के चरित्र की मार्मिक व्याख्या करते हुए श्रीमती सत्यभामा आडिल ने उसे रामायण की धुरी के रूप में निरूपित किया। संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक डा० गंगाचरण त्रिपाठी ने राम के चरित्र पर विचार करते हुए उन्हें अग्नि, सूर्य और चन्द्र का समन्वित प्रतीक बताया। प्राध्यापिका कुमारी माया नायक ने सीता के चरित्र की प्रभावपूर्ण व्याख्या करते हुए कहा कि सीता ने आदर्श पत्नी का उदाहरण उपस्थित किया है। विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक डा० गंगाप्रसाद गुप्त ने बालि के चरित्र की अपूर्व विवेचना की। बालि के गुणों की चर्चा करते हुए उन्होंने रामायणकार के अन्याय की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित किया। भरत के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए प्राध्यापक कनककुमार तिवारी ने उन्हें व्यवहार-कुशलता, लगन, निष्ठा और निष्काम कर्म के प्रतीक के रूप में विवेचित किया। प्राध्यापक बालचन्द्र कछवाहा ने रावण को महात्मा के रूप में प्रस्तुत किया और कहा कि आज देश को रावण की बड़ी आवश्यकता है। प्राध्यापक गुणवन्त व्यास ने हनुमान पर और

प्राध्यापक हरवंशलाल चौरसिया ने विभीषण के चरित्रों पर प्रकाश डाला।

अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए स्वामी आत्मानन्द ने एक सुंदर रूपक के माध्यम से रामायण के पात्रों पर विद्वत्तापूर्ण शैली में अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा कि महाराजा दशरथ जीव के प्रतीक हैं तथा उनकी तीन रानियाँ सत्त्व, रज और तम गुणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कौशल्या सत्त्वगुण की, सुमित्रा रजोगुण की, और कैकेयी तमोगुण की प्रतीक हैं। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न क्रमशः जीव की चार अवस्थाओं – तुरीय, जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति-के व्यंजक हैं। सीता को शांति और रावण को महामोह के प्रतीक के रूप में उपस्थित करते हुए स्वामीजी ने कहा कि रावण के दस मुख प्रतीकात्मक रूप से सुख, सम्पत्ति, सुत, सैन्य, साहसिकता, जय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई की व्यञ्जना करते हैं। हनुमान मन का और विभीषण बुद्धि एवं विवेक का प्रतीक है। रामचरित मानस की मार्मिक चौपाइयों को उद्धृत करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि मन, बुद्धि के संयोग से शान्तिरूपी सीता का पता लगाता है और अन्त में रावणरूपी महामोह का नाश होता है।

२९ जनवरी, १९६६

विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अन्तिम दिन सर्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। भिलाई इस्पात कारखाने के चीफ इलेक्ट्रिकल इंजीनियर श्री टी० एस० कृष्णमूर्ति इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे तथा आठ वक्ताओं ने संसार के आठ धर्मों पर विद्वतापूर्ण व्याख्यान दिया।

श्री भगवानदास जैन, काव्यतीर्थ ने जैन धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुये बताया कि भगवान जिनेन्द्र ने इस धर्म की प्ररोचना की थी। उन्होंने कहा कि अहिंसा जैन धर्म की आधारशिला है और महात्मा गाँधी सच्चे अहिंसक थे। राजकुमार कॉलेज के प्राचार्य श्री व्ही० व्ही० सोवानी ने बौद्ध धर्म के तत्वों पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि भगवान् बुद्ध वैदिक धर्म की कट्टरता को दूर करने के लिये समाज को एक धक्का देना चाहते थे। डा० कन्हैयालाल वर्मा, एडवोकेट ने यहूदी धर्म की व्याख्या करते हुए उसके प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किया। ईसाई धर्म का आख्यान करते हुए रेवरेण्ड डा० गुरुबचन सिंह ने कहा कि मसीही धर्म के अनुसार परमेश्वर ही प्रेम है। जो व्यक्ति ईश्वर को मानता है उसे भी प्रेमवान् होना चाहिये। प्राध्यापिका कुमारी मनजीत बतरा ने सिक्ख धर्म पर व्याख्यान देते हुए कहा कि गुरुनानक जी का अवतार अधर्म और अन्याय के साम्राज्य में धर्म और न्याय की रक्षा करने के लिये हुआ था। खालसा का अर्थ है शुद्ध मनुष्यता का पथ दिखाने वाला। सिक्ख गुरुओं की महानता की विवेचना करते हुए उन्होंने गुरुगोविन्दसिंह के कार्य का विवेचन किया। श्री अहमद अफजल रिजवी ने इस्लाम धर्म की सांगोपांग विवेचना करते हुए कहा कि इस्लाम एकेश्वरवादी धर्म है तथा वह दूसरों के धर्मों का आदर करने की सीख देता है। इस्लाम धर्म के तत्वों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि समानता इस धर्म की आधारशिला है। श्री एन० बी० छोर ने पारसी धर्म पर विचार प्रकट करते हुए पारसी जाति की विशेषताओं और पारसी - धर्म के मूलतत्वों की विवेचना की।

अन्त में स्वामी आत्मानन्द ने हिन्दू धर्म का आख्यान करते

हुए ओजस्वी स्वर में कहा कि हिन्दू धर्म ने सबको जोड़ने की कोशिश की है। उन्होंने बताया कि हिन्दू धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है तथा यद्यपि इसमें कालप्रवाह में कुछ दोष घुस आये हैं किन्तु इसके मूलतत्वों में कोई परिवर्तन नहीं है। वेदों के आधार पर स्वामीजी ने मानवीय-मेधा के विकास का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया और बताया कि हिन्दू धर्म सत्य के साक्षात्कार के लिये व्यक्तियों को एक वैज्ञानिक विधि सिखाता है। उन्होंने प्रभावी शब्दों में कहा कि हिन्दू धर्म असत्य की सत्ता नहीं मानता। उसके अनुसार असत्य से सत्य की ओर नहीं अपितु सत्य से सत्य की ओर — निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर बढ़ा जाता है। इसके पूर्व स्वामी आत्मानन्द ने श्रीरामकृष्ण सेवा समिति की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी थी। सम्मेलन का समारोप श्रीकृष्णमूर्ति के भावप्रवण व्याख्यान से हुआ। अन्त में श्री संतोषकुमार झा ने श्रोताओं के प्रति धन्यवाद ज्ञापन किया। इस जयन्ती-समारोह की समाप्ति राष्ट्रगान के साथ हुई।

समीक्षायन

राष्ट्रधर्म: रचना विशेषांक, भाग २ संपादक-रामशंकर अग्निहोत्री, डा० रघुवीर नगर, लखनऊ। मूल्य १)

'राष्ट्रधर्म' मासिक का यह दूसरा, विशेषांक है। सामग्री का चयन कुशलतापूर्वक किया गया है। श्री रामशंकर अग्निहोत्री का अग्रलेख "शास्त्रीजी भारत लौट आते तो ?' एक गम्भीर रचना है। लेखक अत्यन्त भावप्रवण होकर यह लेख लिखा है। डा० पु० ग० सहस्रबुद्धे का "क्या हिन्दू, 'समाज' है ?" और डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का 'हिन्दूसंस्कृति" नामक निबंध शोधपरक और ज्ञानवर्धक हैं। साहित्यिक लेखों में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का "एक कविता के प्रति" विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री मायाशंकर की "भारतीय वीरों की शौर्य कथाएँ (४)" बड़ी प्रेरणापूर्ण है। ऐसा लगता है कि लेखक स्वयं घटनास्थल पर विद्यमान है और बड़े सजीव ढंग से भारत-पाक युद्ध में भारतीय सैनिकों की शूरतापूर्ण घटनाओं का वर्णन कर रहा है। श्री शरतचन्द्र पेंढारकर का "बात बात में बात" मनोरंजक रचना है। कविताओं का चयन सुरुचिपूर्ण है। श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की "भारत माता" श्री गंगाप्रसाद गुप्त "वरसैंया' की "अब न प्यार के गीत सुनाओ" सुन्दर हैं। डा० शिव शरण शर्मा की "मैं हिंदू हूँ !" नामक कविता बड़ी भावपूर्ण है। विशेषांक में आर्थिक-सामाजिक निबंध भी हैं यह अंक पठनीय और मननीय है। मुद्रण यद्यपि दोषमुक्त नहीं है किन्तु पत्रिका का गेट-अप नयनाभिराम है। कुल मिलाकर यह शेषांक संग्रहणीय है।

—डा० नरेन्द्र देव वर्मा

विवेकानन्द संस्कृत गोष्ठी

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी के तत्त्वावधान में स्वामी विवेकानन्दजी की १०४ थी जन्मतिथि के उपलक्ष्य में १५ और १६ जनवरी १९६६ को दो दिनों तक संस्कृत गोष्ठी का आयोजन किया गया था। इन दोनों गोष्ठियों की अध्यक्षता क्रमशः वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री एस. एन. एम. त्रिपाठी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति न्यायमूर्ति श्री एन. एच. भागवती ने की थी।

इस गोष्ठी में संस्कृत भाषा में निबन्ध-लेखन प्रतियोगिता और भाषण प्रतियोगिता के कार्यक्रम प्रमुख थे। प्रतियोगिता का विषय था, 'वेदान्त धर्म प्रतिष्ठाता युगाचार्य विवेकानन्द'। इन प्रतियोगिताओं में वाराणसी के विभिन्न महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के ४७ संस्कृत के अध्येता विद्यार्थियों ने भाग लिया। इनमें छात्राएँ भी थीं। दोनों दिनों का कार्यक्रम वैदिक मंत्रों के पाठ के साथ आरम्भ किया गया।

वाराणसी में सार्वजनिक संस्कृत गोष्ठी का प्रारम्भ सबसे पहले रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी के द्वारा गत वर्ष भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की जयन्ती

के अवसर पर किया गया था। यह गोष्ठी आशातीत रूप से सफल हुई थी।

इस वर्ष रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी के अध्यक्ष स्वामी अपूर्वानन्द जी महाराज ने सभा का स्वागत किया। सभा के समक्ष विषय को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को सार्वभौमिक और चिरन्तन धर्म के रूप में देखा था। उन्होंने बताया कि सनातन वैदिक धम ही विश्व के सभी धर्मों की जननी है। वेदान्त केवल राष्ट्रीय संगठन-के लिये ही नहीं अपितु समस्त मानवता के लिये एक महत्तम समन्वयात्मक शक्ति रहा है।

स्वामीजी ने कहा कि इस कोष और समन्वयात्मक शक्ति का माध्यम संस्कृत थी। भारत संस्कृत का व्यापक विकास और प्रसार करने पर ही अपने राष्ट्रीय संगठन, प्राचीन विवेक, ज्ञान, परम्परा और सम्पदा को सुरक्षित रख सका था।

संस्कृत गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए काशीनरेश-महाराजा विभूतिनारायण सिंह बहादुर ने एक शोक प्रस्ताव पारित किया और उपस्थित जनता ने खड़े होकर मूक श्रद्धांजलि अर्पित की। शोक-प्रस्ताव अध्यक्ष महोदय के द्वारा पढ़ा गया। संस्कृत में लिखित शोकप्रस्ताव में कहा गया कि "हमारे महान् प्रधानमंत्री स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री ने ताशकंद में कठिनाई की चट्टानों को काटकर राष्ट्रों और मानवता के कल्याण के लिये शांति की सरिता प्रवाहित करने का जो प्रयास किया था वह भगीरथ के

हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों से सुरसरि को निकालकर प्रवाहित करने के प्रयास के समान स्तुत्य हैं। परमात्मा उनकी दिवंगत आत्मा को शांति दे।"

तदनन्तर काशीनरेश ने निबन्ध-प्रतियोगिता में भाग लेने वाले सभी प्रतिस्पर्धियों को संस्कृत पुस्तकों का पुरस्कार प्रदान किया। २१ प्रतिस्पर्धी प्रवर श्रेणी के थे तथा ४ प्रतिस्पर्धी अवर श्रेणी के। पुरस्कार जीतनेवालों में ८ छात्राएँ भी थीं।

१५ जनवरी को संस्कृत में अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए उपकुलपति पण्डित त्रिपाठी ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द संस्कृत के महान् प्रेमी थे; उनकी मान्यता थी कि भारत का भावी नवजागरण और नव्वोत्थान संस्कृत के अध्ययन और प्रसार पर ही अधिक निर्भर है। स्वामीजी ने वेदान्त को अपने जीवन में उतारा था और उसका जीवन भर प्रचार किया था। यही वेदान्त आज विश्व-सभ्यता की संक्रान्तिपूर्ण घड़ी में समस्त संसार के लिये एक नया आलोक और आशा प्रदान कर रहा है। स्वामी जीने पृथ्वी के दोनों गोलार्धों के एकीकरण और लोक-मंगल के लिये अपने जीवन को उत्सर्जित कर दिया।

न्यायमूर्ति श्री एन. एच. भागवती ने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द भारत के आलोक-स्तम्भ थे। उन्होंने सनातन वैदिक धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया और भारत को संसार के समक्ष ला खड़ा किया। वेदान्त धर्म की जीवनी शक्ति थे। उन्होंने अपने

जीवन को वेदान्त के मूल सत्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म है) पर आधारित किया था स्वामी विवेकानन्द ने जरूरतमंदों के प्रति-रोगी, अछूत और उत्पीड़ित जनों के प्रति प्रेम और सेवा की सीख दी। उन्होंने प्रत्येक प्राणी में साक्षात् नारायण को उपस्थित जानकर उनकी सेवा करने का अध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रदान किया।

यही वेदान्त का अमर संदेश है। स्वामीजी के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए और उनके 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के महामंत्र को जीवन का लक्ष्य मानते हुए श्रीरामकृष्ण मठ और मिशन के कार्यकर्त्ता सभी प्राणियों में एक ही दैवी शक्ति की विद्यमानता के ज्ञान से एकता, बन्धुत्व और सौहार्द के आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को जो नयी और व्यावहारिक अभिव्यक्ति दी है, वह संसार के सभी देशों के व्यक्तियों को अपने उस निहित गौरव और दैवी स्वभाव को व्यक्त करने में समर्थ बना रही है।

न्यायमूर्ति भागवती ने संस्कृत भाषण प्रतियोगिता के २२ वक्ताओं को मूल्यवान् संस्कृत ग्रंथों का पुरस्कार प्रदान किया। इनमें ३ छात्राएँ और २ नेत्रहीन छात्र भी थे।

इस गोष्ठी में संस्कृत के अनेक विद्वानों के भाषण हुए। इनमें वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्या विभाग के संचालक पण्डित बल्देव उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मीमांसारत्नम् प्राध्यापक पण्डित सुब्रमण्यम शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विश्व-

विद्यालय अनुदान आयोग के प्राध्यापक डॉ० एन० एन० चौधरी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महा-विद्यालय के प्राचार्य पंडित व्ही० एस० रामचन्द्र शास्त्री उल्लेखनीय हैं।

प्राध्यापक पण्डित टी० बी० भण्डारकर, साहित्यरत्न ने संस्कृत में कविता रचकर धन्यवाद-ज्ञापन किया जिसकी करतल-ध्वनि से प्रशंसा की गयी। दोनों दिन गोष्ठी का कार्यक्रम संस्कृत भाषा में ही सम्पन्न हुआ और इसके अन्तर्गत दिये गये व्याख्यानों का स्तर अत्यन्त ऊँचा था।

श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।

Registered with the Registrar of News papers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

जो ब्रह्म है, वही काली है (माँ आद्याशक्ति है)। जब वह निष्क्रिय रहता है तो उसे ब्रह्म कहकर पुकारता हूँ। जब वह सृष्टि, स्थिति, प्रलय करता है तो उसे शक्ति कहता हूँ। स्थिर जल ब्रह्म की उपमा है। हिलता-डुलता जल शक्ति अथवा काली की उपमा है। काली कौन है जानते हो? —जो महाकाल (ब्रह्म) के साथ रमण करती है। काली 'साकार आकार निराकारा' है।

यदि तुम निराकार में विश्वास करते हो तो काली का ध्यान उसी प्रकार करना। एक पक्की धारणा बनाकर उसका ध्यान करने से वह स्वयं जना देगी कि वह कैसी है। श्यामपुकुर पहुँचने पर तेलीपारा को भी जान लोगे। तब तुम इतना ही नहीं जानोगे कि वह है (अस्तिमात्रम्), बल्कि वह तुम्हारे पास आकर तुमसे बातचीत करेगी — मैं जैसे तुमसे बातचीत कर रहा हूँ वैसे ही। विश्वास करो, सब हो जायगा। और एक बात कहूँ। यदि तुम्हारा विश्वास निराकार में है, तो दृढ़ता से उसी में विश्वास करना। पर हाँ, कट्टर मत बनना। उस (ब्रह्म) के सम्बन्ध में जोर देकर ऐसा न कहना कि वह बस ऐसा ही हो सकता है, वैसा नहीं। बल्कि कहो, मेरा विश्वास है कि वह निराकार है, तथापि वह न जाने और क्या क्या है। मैं नहीं जानता, समझ नहीं सकता। मनुष्य अपनी एक छटाक बुद्धि से ईश्वर के स्वरूप को कैसे समझ सकता है? एक सेर के लोटे में क्या चार सेर दूध समायेगा? ईश्वर यदि कृपा करके दर्शन दे और अपने आपको समझा दे, तभी उसे समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

— १६ अक्तूबर, १८८४

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी—१